भारतीय सिनेमा पर इप्टा का प्रभाव
IMPACT OF IPTA ON INDIAN CINEMA

लघु शोध प्रबन्ध

बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय से
जनसंचार एवं पत्रकारिता विभाग विषय
में एम० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत
मास्टर ऑफ फिलॉसफी (एम० फिल०)

शोधार्थी

आशुतोष कुमार राय

इनरोलमेण्ट न. 100/19

शोध निर्देशक

प्रोफेसर गोविन्द जी पाण्डेय

BABASAHEB
BHIMRAO
AMBEDKAR
UNIVERSITY
LUCKNOW
प्रज्ञा शील करुणा
ESTABLISHED 1996

जनसंचार एवं पत्रकारिता विभाग
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
विद्या विहार, रायबरेली रोड लखनऊ (उ०प्र०)

2020

बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)–नैक 'ए' ग्रेड
विद्या विहार, रायबरेली रोड, लखनऊ–226025

BABASAHEB BHIMRAO AMBEDKAR UNIVERSITY
(A Central University) – NAAC 'A' Grade
Vidya Vihar, Rae Bareli Road, Lucknow-226025

CERTIFICATE

This is to certify that M.Phil. Dissertation titled "भारतीय सिनेमा पर इप्टा का प्रभाव" (**Impact Of IPTA On Indian Cinema**) submitted by **Mr. ASHUTOSH KUMAR RAI** is an original research work and has not been previously submitted in part or full for the award of any other degree or diploma to this or any other University.

The M.Phil. Dissertation submitted to **Babasaheb Bhimrao Ambedkar University Lucknow,** satisfies all the requirement as stipulated in the ***Master of Philosophy (M.Phil.) Regulations-2019*** and it is fit for submission and evaluation for the award of the degree of Master of Philosophy of the University.

Date **Supervisor**

Head of the Department

घोषणा

मैं आशुतोष कुमार राय यह घोषणा करता हूँ कि मैंने ''भारतीय सिनेमा पर इप्टा का प्रभाव'' (IMPACT OF IPTA ON INDIAN CINEMA) विषय पर शोध कार्य प्रोफेसर गोविन्द जी पाण्डेय, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, (केन्द्रीय विश्वविद्यालय), लखनऊ के निर्देषन में पूर्ण किया है। एम0 फिल0 की उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध मेरा मौलिक कार्य है। प्रस्तुत लघु शोध इससे पहले इस विश्वविद्यालय में, एम0 फिल0 उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है। प्रस्तुत लघु शोध पूर्ण रूप से प्लैग्यरिज्म मुक्त है।

दिनांक

शोधार्थी

आशुतोष कुमार राय
जनसंचार एवं पत्रकारिता विभाग
बाबासाहेब भीमराव
अम्बेडकर विश्वविद्यालय,
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय), लखनऊ

आभार कथन

प्रस्तुत शोध भारतीय सिनेमा पर इप्टा का प्रभाव मेरे सांस्कृतिक और राजनैतिक रुझानों की उपज है। इसलिए सर्वप्रथम मैं उन सभी लोगों का शुक्रिया अदा करता हूँ जो मेरे सफर में हस्तक्षेप दिए, आलोचना और मार्गदर्शन देने की जहमत उठाए।

इस कड़ी में सर्वप्रथम मैं अपने शोध निर्देशक गुरुवर गोविन्द जी पाण्डेय का आभार प्रकट करना चाहूँगा। जिनकी उपस्थिति और प्रेरणा के कारण मैं एक शोधार्थी के रूप में अपनी शुरुआत करने में सफलता हासिल की। गुरु ही तिमिर की तलहटी से प्रकाश के पुंज तक पहुँचाने का माध्यम भर नही होता बल्कि इस सफर में कदमताल करते हुए भी साथ चलता है। सर की उपस्थिति भी कुछ ऐसी ही रही।

विभाग के वरिष्ठ प्रोफेसर और विभाग अध्यक्ष गुरुवर गोपाल सिंह का भी मैं आभारी हूँ. उनका विश्वास और सहृदयता का परिणाम है कि यह शोध परियोजना आज मुकम्मल रूप से सबके सामने आ रही। विभाग के अन्य आचार्यों ने भी मुझे प्रोत्साहित करने का प्रयास किया है। आज इस आभार की घड़ी में मैं आदरणीय अरविन्द सिंह सर, आदरणीय कुंवर सुरेन्द्र बहादुर सर, आदरणीय महेंद्र पाधी सर, आदरणीय लोकनाथ सर और आदरणीया रचना मैम के प्रति अपना विशेष आभार प्रकट करना चाहूँगा।

आज तक के मेरे सफर में लम्बें समय से शामिल रहे साथियों में शुमार मधुकर कृष्ण, पुनीत सिंह, रितेश दुबे, को भी याद करना चाहूँगा। जो आज भी मेरे इस मुकाम तक ले जाने के लिए ऊर्जा के स्त्रोत हैं और हमेशा रहेंगे। सहपाठियों में प्रियंका सिंह का विशेष आभार प्रकट करना चाहूँगा। जिन्होंने इस शोध कार्य में हरेक वक्त अपनी उपलब्धता से इसे एक आकार देने में मदद दी है। इस कड़ी में मैं अजय तिवारी, पूजा आर्य और ज्योत्सना जी के प्रति आभार प्रकट करना चाहूँगा। जिन्होंने हमेशा मुझे अपने सहयोग से नवाजा और हर सम्भव मदद दी।

यह शोध कार्य बड़े भाई डॉ विष्णु प्रताप मिश्रा के जरूरी हस्तक्षेपों, आकदमिक विमर्शों और कोरोना की जटिलता में उनके संचित ज्ञान कोशों का परिणाम है। उनके प्रति अपना आभार और कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। साथ ही बड़े भाई डॉ अरमान आनन्द को भी इस सफर में हमेशा साथ देने के लिए शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ।

अंततः अपने माता और पिता जी के प्रति आभार प्रकट करना चाहूँगा.जिन्होंने मुझे इस संसार में लाकर एक ध्येय दिया है। भाइयों का आभार जो मुझे सुनते हैं और सम्मान देते हैं. प्रिंसी द्विवेदी का आभार जिनकी उपस्थिति मेरे लिए एक हमेशा कठिन परिस्थितियों में सम्बल देने का कार्य करती है।

विषय सूची

अध्याय–1	सजग अभिव्यक्ति के रूप में सिनेमा	2–22
अध्याय–2	इप्टा के गठन से पूर्व भारतीय सिनेमा	23–35
अध्याय–3	सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में इप्टा का उदघोष	36–53
अध्याय–4	'धरती के लाल' से प्यासा के विजय तक	54–73
अध्याय–5	पर्दा गिरता है	74–80
संदर्भ सूची–		81–82

अध्याय 1

सजग अभिव्यक्ति के रूप में सिनेमा

भूमिका

सिनेमा आधुनिक जनसंस्कृति का वह माध्यम है जो सभी तत्कालीन कलाओं को सार्वभौमिकता प्रदान कर उसे जनसुलभ बनाता है।'किसी भी अन्य माध्यम की अपेक्षा सिनेमा न सिर्फ हमारा मनोरंजन करता है, बल्कि इस दुनिया को समझने की शक्ति और समझ प्रदान करता है" ।[1]

आज हम अपने समय में एक वैश्विक समाज को महसूस कर रहे हैं और उसे जी रहे हैं। सूचनाओं से लैस इस समाज का सूत्रपात 16वीं सदी के औद्योगिक प्रगति के बाद आरम्भ हुआ और देखते ही देखते इसके सभी आयामों ने काफी प्रगति हासिल की। मसलन छापाखाने की ईजाद के बाद अखबार, पोस्टर और फिर प्रिंटर की दुनिया। इसे भौतिकी के अन्य अविष्कारों ने और रोचक बनाया। जिनमें से एक था कैमरे का अविष्कार।

वैसे तो कैमरे के सिद्धांतों को सबसे पहले चाइनीज दार्शनिक मोजी ने हान वंश के समय सम्पादित किया था। वहीं अरस्तू ने भी अपनी किताब 'प्रॉब्लम' में दृश्यात्मकता का उल्लेख किया है। लेकिन कैमरे का सबसे पहला स्थूल संस्करण सम्भव हुआ 1816 में। जब फ्रांस के जोसफ निफर निसे ने लकड़ी के डिब्बेनुमा यंत्र जैसा पहला कैमरा दुनिया के सामने रखा। कैमरे के इस अभूतपूर्व खोज ने आगे चलकर सिनेमा का रुख अख्तियार किया।

सिनेमा का सफर भारत में एक सदी पुराना है। लगभग इतनी ही उम्र विश्व सिनेमा का भी है। ऐसे में सिनेमा ने अपने लिए समय–समय पर नए लिबास तवील किये हैं और पुरानी पोशाकों को तहखाने भेज दिया है। इसके लिए एक शब्द का प्रचलन होता है– सिनेमा मूवमेंट। समय के साथ सिनेमा के अंदर कई तरह के आंदोलनों ने उसकी रुपरेखा, भाषा, कथ्य और तकनीकी में फेरबदल करने का प्रयास किया है। यह आन्दोलन या तो सिनेमा ने वैश्विक राजनीति से हासिल किया है या राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले विमर्शों से। इन आंदोलनों के प्रमुख घटक हैं राजनैतिक चिन्तन, सामाजिक तानाबाना, सांस्कृतिक आग्रह और आर्थिक

[1] Moti Gokulsingh,Wimal Dissanayake(2004),Indian popular cinema:A narrative of cultural change,trerntham books,Englan

उन्नति। प्रस्तुत अध्ययन भारतीय जन नाट्य मंच द्वारा भारतीय सिनेमा पर छोड़े गये प्रभावों के विश्लेष्ण पर आधारित है।

विश्व सिनेमा का सफरनामा

ल्युमियर बन्धु का नाम विश्व सिनेमा के परिचय के लिए लिया जाता रहा है। ल्युमियर और आगास्ते नाम के इन दो भाइयों ने फोटोग्राफी का विस्तार करते हुए सिनेमैटोग्राफी तकनीकी का ईजाद किया। इसी तकनीकी के आधार पर समूची सिनेमाई कल्पना, एक कला के रूप में आज हमारे सामने है।

'अरैवल आफ ट्रेन' नामक उनकी पहली प्रदर्शित फोटोफिल्म का विषय भी चलते–फिरते दृश्यों का समायोजन था। जो वास्तविक दृश्यों को कैमरे में कैद करके प्रोजेक्टर के माध्यम से प्रदर्शित किया गया। 28 दिसम्बर 1895 को उन्होंने इसे दुनिया के सामने रखा जिसके बाद फ्रांस के जादूगर जॉर्ज मैलिस ने कल्पना का मिश्रण कर 1902 में 'अ ट्रिप टू द मून' नामक फिल्म दुनिया के सामने प्रदर्शित की।[2]

मैलिस ने सिनेमा को जादुई दुनिया की तरफ मोड़ दिया। फिल्मों में कथा संरचना के कारण यह दर्शकों के लिए एक अलग अनुभव था। 'अ ट्रिप टू द मून' का कथा वस्तु फंतासी पर आधारित था जो आर्मस्ट्रांग के चाँद गमन से आधी सदी पूर्व दर्शकों के सामने था। इसके साथ ही फिल्म के सम्पादन में स्लो मोशन, मोंटाज, मल्टीपल एक्सपोजर जैसी तकनीकियों ने उसे ल्युमियर बन्धुओं के चलते–फिरते दृश्यों से एक अलग रोमांच प्रदान किया। यह सिनेमा के सफर के लिए एक मील का पत्थर है। मैलिस ने अपनी फिल्मों में प्रकाश संयोजन,सेट निर्माण और स्पेशल इफेक्ट को काफी कलात्मक तरीके से प्रस्तुत किया। साथ ही सिनेमा को एक्सप्रेशन देने का काम किया। जो आज भी प्रासंगिक है।

फ्रांस में जहाँ मैलिस ने इसे वास्तविकता के धरातल से दूर कल्पना को सिनेमा का आधार बनाया तो वहीं रूस के निर्देशकों ने सिनेमा के लिए कुछ अलग आधार प्रस्तुत किये। यह

[2] Keval Jkumar,Mass communication in India,jaico publication,new delhi,page 168-69

वास्तविकता से सम्बन्धित था। सिनेमा के यथार्थवादी दृष्टिकोण को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इटली के निर्देशकों ने तराशा। कुल मिलाकर बहुत जल्द ही सिनेमा अपने लिए महत्वपूर्ण विषय सामग्री इकट्ठा करने में सफल रहा।

विश्व सिनेमा के शुरुआती आन्दोलन

सामाजिक सरोकारों के प्रति सिनेमा हमेशा से मुखर रहा है। इसकी शुरुआत यूरोपीय देशों के राजनैतिक–सांस्कृतिक उठापटक से शुरू हुई। यूरोप के निर्देशकों ने सिनेमा को मानवीय अभिव्यक्ति का व्याकरण प्रथम विश्व के युद्ध के बाद से ही पढ़ाना शुरू कर दिया। जिसमें जर्मनी का एक्स्प्रेसनिज्म, इटली का नव यथार्थवाद, रूस का यथार्थवाद महत्वपूर्ण माने गये हैं। इस दौर के निर्देशकों में जॉर्ज मैलिस, विक्टोरिया द सीका, पुदवोकिन ने सिनेमा के इन अभिव्यक्ति परक संवेगों से दुनिया को रूबरू कराया।

सबसे पहले रशियन वामपंथी सरकार ने सिनेमा की गम्भीरता को समझा। 1920 के मध्य लेनिन के नेतृत्त्व में सत्ता में आई कम्युनिस्ट पार्टी आफ सोवियत यूनियन ने सिनेमा के लिए जरूरी संसाधनों को मुहैया कराने के लिए फिल्म डिविजन का निर्माण किया। जिसका मुख्य काम था सोवियत सरकार की आर्थिक और राजनैतिक विचारधारा को प्रश्रय देना। रशियन एक्स्प्रेसनिज्म की शुरुआत इसी डिविजन से हुई। फिल्मों को प्रगतिशील वैज्ञानिक सोच के साथ आम जनमानस के सरोकारों को दिखाने के लिए प्रयोग में लाया गया। सरकारी सुविधाओं के कारण रशियन फिल्मों ने तकनीकी रूप से वह दक्षता हासिल की जो व्यक्तिगत प्रयासों से कभी भी इतनी जल्दी हासिल नहीं की जा सकती है।

वहीं यूरोप में फासिस्ट ताकतों का उदय अपने चरम पर था। जर्मनी और इटली के फासिस्ट राष्ट्रवादियों ने लेखकों–कलाकारों के सामने भारी संकट खड़ा कर दिया था। ऐसे में वहां पर पापुलर फ्रंट के नेतृत्व में लेखकों, बुद्धिजीवियों, मजदूरों, विद्यार्थियों ने प्रगतिशील सोच के साथ फासिस्ट ताकतों के खिलाफ मोर्चा खोल रखा था। जिससे यूरोपीय सिनेमा काफी प्रभावित हुआ। फासिस्ट ताकतों के द्वितीय विश्व युद्ध में पराजय के बाद उपजे आर्थिक–राजनैतिक हालातों ने इटली–जर्मनी–फ्रांस के फिल्म निर्माताओं के सामने जो संकट उत्पन्न किये उसने

सिनेमा के नव यथार्थवादी दृष्टिकोण का सूत्रपात किया। क्योंकि रशियन प्रभाव से रची—बसी फिल्मों ने यूरोप और अमेरिका दोनों जगह के निर्देशकों को प्रभावित किया था। जिसके लक्षण उस दौर की बेहतरीन फिल्मों में परिलक्षित होते हैं।

भारतीय सिनेमा का संक्षिप्त परिचय

सर्वविदित है की भारतीय सिनेमा दादा साहेब फाल्के के 'राजा हरिश्चंद्र' के साथ शुरू होता है। फाल्के बम्बई के फोटोग्राफर, पेंटर, जादूगर थे। उन्होंने सिनेमा बनाने का निर्णय 'लाइफ आफ क्राइस्ट' देखने के बाद लिया।[3] फिल्म देखने के बाद वह लन्दन जाकर सम्बन्धित फिल्म तकनीकियों को सीखने के बाद बम्बई वापस आए। 1913 भारतीय सिनेमा के लिए ऐतिहासिक दिन साबित हुआ। इस तरह भारतीय सिनेमा की शुरुआत हुई।

चित्रः दादा साहेब फाल्के (साभारः बॉलीवुड गुगली)

[3] Ashish Rjadhyhyaksha,Indian Cinema:A very short introduction,Oxford university press,page1

दादा साहेब फाल्के ने अपनी फिल्मों के लिए पौराणिक कहानियों का आधार बनाया।[4] इसके पीछे के प्रमुख कारणों को उस समय के सांस्कृतिक और सामजिक रुझानों के माध्यम से समझा जा सकता है। जिनको दादा साहेब फाल्के अपनी फिल्मों का जरिया बना रहे थे। स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव भी दादासाहेब फाल्के पर बहुत गहरा था। क्योंकि उन्होंने अपने निबन्धों की श्रृंखला में सिन्मैटोग्राफी को फोटोग्राफी का अगला स्तर बताते हुए उसे राजनैतिक उद्देश्यों से अक्षुण्ण बताया था।[5] इसके साथ उन्होंने फिल्म निर्माण की प्रक्रिया को भी स्वदेशी तकनीकियों से लैस किया। उनकी प्रमुख फिल्मों में लंकादहन, सावित्री, भस्मासुर मोहिनी हैं। जिनका आधार पौराणिक रहा। आम जनमानस के लिए भी कथाओं का चलचित्रित होना सिनेमा से जुड़ने का आधार तैयार करने में सफल रहा।

1913 से 1933 तक का भारतीय सिनेमा का सफर सवाक् नहीं था। इस दौर की सभी फिल्मों में ध्वनियों का आभाव रहा। ऐसा उस दौर के तकनीकी अक्षमता का परिणाम था। देश की दशा सिनेमा के लिए पूरी तरह तैयार नहीं थी। औपनिवेशिक साम्राज्य की नीतियों के कारण भी शुरुआती भारतीय भाषाई सिनेमा का कथावस्तु पौराणिक ही रहा। ब्रिटिश साम्राज्य भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को सिनेमा के माध्यम से आम जनता तक नहीं पहुंचने देना चाहती थी। 1917 में युरोपियन असोसिएशन ने फिल्म द सैर्पेंतेन डांस को लेकर भारतीय सरकार को इस तरह की चेतावनी भी दी।[6]

शुरुआती दो दशकों का भारतीय सिनेमा अपनी भाषा और शैली के लिए जूझता रहा। ऐसा उस दौर में सिनेमा को लेकर भारतीयों की सोच का भी परिणाम था। राजा हरिश्चंद्र के बाद आई मोहिनी में पहली बार किसी महिला किरदार ने भूमिका अदा की। वित्तीय प्रबन्धन भी उत्साहजनक नहीं था। फिल्म निर्माता अपने लगाव के कारण फिल्में बना रहे थे। इनमें प्रमुख

---

[4] keval j.Kumar:Mass communication in India,jaico books,page172

[5] Ashish Rjadhyhyaksha,Indian Cinema:A very short introduction,Oxford university press,page1

[6] keval j.Kumar:Mass communication in India,jaico books,page172

थे बंगाल के डीजी गांगुली और दक्षिण के आर नटराजन।[7] जहां गांगुली की फिल्में व्यंग्यात्मक लहजे की थी, वहीं नटराजन पौराणिक कथावस्तु को ही अपने सिनेमा का आधार बना रहे थे।

फिर साल 1931 का आगमन हुआ। जोसफ डेविड के नाटक को आधार बनाकर अर्देशिर ईरानी ने आलमआरा का निर्माण किया, जिसे सार्वभौमिक रूप से पहली भारतीय बोलती फिल्म की मान्यता हासिल है। आलम आरा मूक फिल्मों से सिर्फ आवाज के कारण ही अलग थी। मूक फिल्मों का दौर नाटकों के रुपांतरण का था, जो सवाक फिल्मों के आगमन के बाद भी जारी रहा।

इस तरह भारतीय सिनेमा के सूत्रपात में रंगमंच विशेषकर पारसी थियेटर की भूमिका अग्रणी रही। शुरुआती कलाकार इन नाटक मंडलियों से थे, जिसके कारण भारतीय फिल्में गीत–संगीत की युगलबंदी से ओतप्रोत रहीं। आलमारा में जहाँ सात गाने थे तो वहीं कुछ साल बाद प्रदर्शित फिल्म इन्द्रसभा में सत्तर गाने थे। गानों की महत्ता को आज भी भारतीय सिनेमा ने ठुकराया नहीं है। इसके पीछे के प्रमुख कारणों में से एक था फिल्मों के प्रचार–प्रसार को गाने सुलभ बना देते थे।[8]

पराधीन भारत का राजनैतिक चिन्तन और भारतीय सिनेमा

नाटकों के रूपान्तरण और गीतों की उपस्थिति के कारण भारतीय सिनेमा में साहित्यिकता का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदी–उर्दू के मिश्रण के कारण भारतीय सिनेमा का युवा काल सामजिक–सांस्कृतिक समरसता के साथ मुखरित हुआ। सिनेमा के पास सभी कलाओं के समायोजन का विकल्प था। इस कारण से संगीतकारों–गीतकारों की उपस्थिति सिनेमा के लिए शुरू से ही वांछनीय हो गई।

मूक और फिर बाद में सवाक् सिनेमा का दौर भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के महत्वपूर्ण सोपान के साथ शुरू हुआ। भारतीय सिनेमा के शुरुआती चरण देश की सांस्कृतिक और राजनैतिक रूप से हो रही उथल–पुथल के आसपास ही ठहरा। 1913 में टैगोर को गीतांजलि के लिए

[7] keval j.Kumar:Mass communication in India,jaico books,page173
[8] Cf ashok D ranade:the hindi film song,new delhi:DK pblishers,2006

नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। बाद के समय में टैगोर की रचनाओं को आधार बनाकर सत्यजित रे ने तीन कन्या, चारुलता जैसी फिल्में बनाईं, जो भारतीय सिनेमा की उपलब्धियों में सम्मलित हैं।

तत्कालीन सिनेमा के पास कहने के लिए भरपूर राजनैतिक सामग्री थी। भगत सिंह, राजगुरु, चन्द्रशेखर आजद जैसे क्रांतिकारियों के लेनिनवादी विचारधारा का सूत्रपात हो चुका था, तो वहीं कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में नेहरू के पूर्ण स्वराज्य के नारों के साथ देश आजादी के लिए अपने आपको पूरी तरह झोंकने की तैयारी में था। गांधीजी ने नमक सत्याग्रह का आगाज 1931 में किया। यह सभी राजनैतिक उथल–पुथल सिनेमा के बोलने से पहले हो रहे थे। ऐसे में भारतीय सिनेमा अपने राष्ट्रीय सरोकारों से विमुख नहीं हो सकता था।

अंग्रेजी राज प्रेस की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगा चुका था। ऐसे में सिनेमा उसके लिए एक नया सिरदर्द बनने वाला था। मुंशी प्रेमचन्द उस समय हिंदी के चर्चित उपन्यासकार थे। अंग्रेजी सरकार ने उनकी रचना 'सोजे–वतन' को प्रतिबंधित कर रखा था। उन्होंने फिल्मकार मोहन भवनानी के साथ 1934 में 'द मिल' लिखी, जो कामगारों पर केन्द्रित थी।[9] इस फिल्म का मजदूर समाज पर व्यापक असर हुआ। किसी भी समस्या से निबटने के लिए तब तत्कालीन सरकार ने इसके प्रदर्शन को प्रतिबंधित कर दिया। साथ ही उस दौर में भारतीय सिनेमा के पास तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों पर फिल्में बनाने के लिए निर्देशकों को अंग्रेजी हुकूमत द्वारा हतोत्साहित करने का प्रयास किया गया। ऐसा उस दौर की फिल्मों के प्रदर्शनों पर सरकारी रोक टोक से देखा जा सकता है।

महात्मा गांधी, जवाहरलाल, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस 1920 के बाद देश की प्रचलित आवाजों में शुमार थे। कांग्रेस के नेतृत्त्व में स्वतंत्रता की मांग को लाहौर अधिवेशन के बाद देशव्यापी समर्थन मिला। कांग्रेस की गाँधीवादी सोच ने बम्बई, कलकत्ता, लाहौर, दिल्ली, अहमदाबाद जैसे शहरों में जनता के भरपूर समर्थन के साथ मौजूदा हुकूमत को घुटने पर ला दिया था,

[9] Gyanesh upadhyay,Bahuvacahn39,oct-dec2013,MGAHV Vardha,page 11-12

तो वही हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन के क्रांतिकारियों के रुमानी रुझान के कारण भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव, आजाद, दत्त का नाम जनता के बीच लोकप्रिय हो चला था।

अंबेडकर और जिन्ना के आगमन के बाद कई अंतर्विषय भी अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ मोर्चा लेने में सफल रहे, जिन्हें आज आइडेंटिटी पॉलिटिक्स के नाम से हम जानते हैं। ऐसे में गाँधीवादी सामाजिक चिन्तन के अलावा अल्पसंख्यक विमर्श, अस्पृश्यता और जाति–विभेद जैसे जटिल मुद्दों ने कांग्रेस के अंदर तोड़ फोड़ मचा दी। मुस्लिम लीग और गांधी के साथ अंबेडकर का पूना पैक्ट इसी के उदाहरण थे। इन सभी असंगतियों के साथ स्वतंत्रता के ध्येय को भारतीय फिल्म निर्माताओं ने अपनी फिल्मों में जगह देने की भरपूर कोशिश की।

भारतीय फिल्म निर्माताओं के पास इन राजनैतिक विषयों पर फिल्में बनाने और प्रदर्शित करने के लिए आवश्यक माहौल की भारी कमी थी। ऐसा हम उस दौर की तत्कालीन सरकार की बंदिशों से अनुमान लगा सकते हैं। ऐसा सिर्फ भारत में ही नहीं था बल्कि ब्रिटेन में भी फिल्म निर्माताओं के लिए व्यापक रूप से एक कोड ऑफ कन्डक्ट मौजूद था, जो अश्लीलता और ईश निंदा को फिल्म में परहेज करने पर आधरित थी। ऐसी नीतियों को साम्राज्यवादी सरकार भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में कड़ाई के साथ लागू करना चाहती थी। ऐसा हम स्वतंत्रता से पहले की फिल्मों और उनके प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध के रूप में देख सकते हैं।

गाँधी के प्रभाव को देखते हुए अंग्रेजी हुकुमत ने 1921 में प्रदर्शित फिल्म 'भक्त विदुर' को प्रतिबंधित कर दिया। कोहिनूर फिल्म कम्पनी द्वारा प्रदर्शित पहली प्रतिबंधित फिल्म भक्त विदुर का नायक महात्मा गाँधी से मिलते जुलते चरित्र का था।[10]

प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य बुरी तरह फंसा हुआ था। इसी समय भारतीय फिल्मकार स्वतंत्रता संग्राम को केंद्र में रखकर पौराणिक कथाओं पर आधारित फिल्में बना रहे थे, जो सांस्कृतिक रूप से भारतीय जनमानस को रेखांकित कर उनके लिए स्वतंत्रता की अहमियत को तवज्जो दे रही थी। 'रिलीफ ऑफ लखनऊ' एक ऐसी फिल्म थी, जिसे 1857 के विद्रोह

---

[10] shukla Narendra,Samaj aur Itihas,navin shrinkhla 10,Samayik prkashan,2014

पर फिल्माया गया था। इस फिल्म की कथावस्तु के कारण तत्कालीन औपनिवेशिक सरकार ने इसके प्रदर्शन पर रोकथाम के प्रयास किए।

भारतीय सिनेमा के शुरुआती रुझान के साथ ही प्रथम विश्व युद्ध की भी शुरुआत होती है, जिसके कारण भारतीय फिल्म निर्माताओं के पास अभिव्यक्ति की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। औपनिवेशिक सरकार की तरफ से 1917 में विलियम विन्सेंट द्वारा सिन्मेंटोग्राफ ऐक्ट प्रस्तुत किया गया, जिसका प्रमुख उद्देश्य था 'आपत्तिजनक फिल्मों के प्रदर्शन की रोकथाम'।[11] इसके बाद सेंसर बोर्ड भी अस्तित्व में आए, जो बम्बई, मद्रास, कोलकाता और रंगून में स्थापित हुए। इन सेंसर बोर्डों का प्रमुख काम था भारतीय और विदेशों से आयातित फिल्मों की जांच करना। यह लगभग पहले से ही भारतीय भूगोल में प्रचलित नाटकों और साहित्यों पर निगरानी और उन्हें प्रतिबंधित करने के समान था।

1919 में जलियावाला बाग कांड, रोलेट एक्ट का विरोध, फिर असहयोग आन्दोलन ने औपनिवेशिक ताकतों को चुनौती देना शुरू कर दिया था। देश का माहौल कांग्रेस के साथ सुगबुगाना शुरू कर दिया था। परिस्थितियां ब्रितानी हुकूमत के विपरीत चल रही थीं। साथ ही विदेशों में बन रही फिल्मों का केंद्र बिंदु भारत बन रहा था। फ्रेंच रेवोल्यूशन, रुसी क्रान्ति पर आधारित फिल्मों का प्रदर्शन औपनिवेशिक सरकार के लिए इस माहौल में और तिलमिलाहट का काम करती। इस कारण मौजूदा सरकार ने साम्राज्यवादी नीतियों की आलोचनात्मक सामग्रियों को प्रतिबंधित कर रखा था। 1925 में सर्गेई इसेन्तिस की फिल्म 'बैटलशिप पोतेमप्किन' को प्रतिबंधित कर दिया गया। फिल्म का विषय सशस्त्र क्रांति पर आधारित था। साथ ही वह सोवियत रूस की लेनिनवादी विचार से ओत प्रोत थी।

प्रतिबंधो का सिलसिला लम्बा चला क्योंकि एक गुलाम देश के पास अभिव्यक्ति के संकट को सरकार बनाए रखना चाहती थी। मजदूर और मालिकों के सम्बन्धो पर आधारित 'द मिल' जिसे प्रभात फिल्म कम्पनी ने बनाया था उसे भी प्रतिबंधित कर दिया गया। इसकी पटकथा मुंशी प्रेमचन्द ने लिखी थी। इस तरह उस दौर में प्रतिबंधित अन्य फिल्में जैसे पैट्रियट (1930),

[11] shukla Narendra,Samaj aur Itihas,navin shrinkhla 10,Samayik prkashan,2014

पटेल प्रोसेशन (1930) को राजनैतिक कारणों से प्रतिबंधित किया गया।[12] अधिकांश फिल्मों पर रोक उनके राजनैतिक, श्रम पूंजी सम्बन्ध, साम्प्रदायिकता के प्रश्नों को देखते हुए लगाया गया क्योंकि अगर गहरे अर्थों में इन प्रश्नों पर विचार किया जाए तो ये सभी औपनिवेशिक–पूंजीवादी सोच को कटघरे में खड़ा कर भारतीय समुदाय को स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध करने से जुड़ी हुई थीं, जो मौजूदा सरकार के लिए खतरे की घंटी के समान थीं।

आलम आरा के बाद सवाक फिल्मों का दौर शुरू हुआ। भारतीय फिल्म निर्माताओं के पास इस विधा को सीखने की आवश्यकता थी क्योंकि यह भारत में मौजूद नहीं थी। जिसके कारण फिल्म निर्माताओं को विदेश जाना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि फिल्मकारों ने तकनीकी के साथ वहां उपलब्ध विदेशी फिल्मों का भी लुत्फ उठाया। इस कारण उनके अंदर सामाजिक सरोकारों से ओत प्रोत फिल्मों के निर्माण की उत्सुकता जगी। इस दौर में वि0 शांताराम, चेतन आनन्द की फिल्मों ने सामाजिक स्तर पर व्याप्त विषमताओं पर फिल्म निर्माण किए। देवदास (1935), अछूत कन्या (1936), संत तुकाराम (1936) कुछ ऐसे ही सामाजिक अंतर विषयों पर आधारित फिल्में थीं। अधिकांश इस दौर की फिल्मों पर महात्मा गाँधी और कांग्रेस द्वारा लड़े जा रहे स्वतन्त्रता संग्राम की छाप थी, जिसे धीरे–धीरे चुनौती देने का काम किया अन्य राजनैतिक संगठनों और व्यक्तियों ने। उनमें से प्रमुख थे समाजवादी और मार्क्सवादी।

औपनिवेशिक सरकार के विरुद्ध महात्मा गांधी की मुहिम के साथ इन दो राजनैतिक संगठनों की विचारधारा थोड़ी अलग थी, जिनका प्रचार–प्रसार इन संगठनों के मुखपत्रों के माध्यम से होता था। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ और 1943 में इंडियन पीपुल्स थियेटर असोसिएसन की स्थापना इन्हीं समाजवादी मूल्यों के प्रचार–प्रसार के लिए किया गया। इनका मुख्य उद्देश्य था एंटी फासिस्ट, संप्रभुतावाद के खिलाफ एक साहित्यिक–सांस्कृतिक आन्दोलन की शुरुआत। इनसे जुड़े लेखकों–साहित्यकारों का एक बड़ा तबका भारतीय सिनेमा से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा था। इसके कारण भारतीय सिनेमा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चल रहे सिनेमाई आंदोलनों को आसानी से अंगीकार करने में सफल हुई।

[12] shukla Narendra,Samaj aur Itihas,navin shrinkhla 10,Samayik prkashan,2014

साहित्य–समीक्षा

सिनेमा पर अध्ययन इतिहास और समाजशास्त्र जैसे विषयों में होता रहा है। मीडिया के अध्ययन से जुड़ी हुई संस्थाओं ने भी सिनेमा को अपना एक महत्वपूर्ण विषय बनाया है। इसलिए सिनेमा में शोध की प्रवृत्तियां अंतरविषयी हैं। प्रस्तुत शोध यह देखने का प्रयास है कि भारतीय सिनेमा पर पड़ने वाले विभिन्न सामजिक–राजनैतिक–सांस्कृतिक–आर्थिक तब्दीलियों में इप्टा किस तरह का योगदान देने में सफल रहा।

वर्ष 2015 में फिल्म अध्ययन विभाग, विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हैदराबाद के शोधार्थी विनायक भट्टाचार्य ने अपने शोध कार्य 'द लेफ्ट एनकाउंटर प्रोग्रेसिव पॉलिटिक्स ऐंड इंडियन सिनेमा 1950' में यह देखने का प्रयास किया है कि किस तरह इप्टा द्वारा निर्मित फिल्मों ने सामजिक यथार्थ को भारतीय सिनेमा का अंतर विषय बनाया। समूचा शोध–कार्य इप्टा द्वारा बनाई गई धरती के लाल (1946), नीचा नगर (1946) और चिन्नामुल (1950) पर आधारित हैं। भट्टाचार्य ने यह भी देखने की कोशिश की है कि लेफ्ट एनकाउंटर से पहले भारतीय सिनेमा का क्रियान्वयन किन वर्गों के हाथों में था, जिसके कारण भारतीय सिनेमा में प्रचलित धारणाएं एक विशेष वर्ग की प्रतिनिधि थीं।[13] भट्टाचार्य ने अपने शोध–कार्य में इसे समाज को एक सुविधाभोगी सम्पन्न तबका बताया है।

इप्टा के कलाकारों द्वारा भारतीय सिनेमा के सौन्दर्यबोध पर भी दखल देने का कार्य इस शोध–कार्य में परिलक्षित है। इप्टा ने किस प्रकार के थीमेटिक बदलाव अपने हस्तक्षेप के माध्यम से भारतीय सिनेमा में निर्दिष्ट किए, इसकी विवेचना भी भट्टाचार्य ने की है। साथ ही यह शोध कार्य सामाजिक रूप से हाशिये पर पड़े मजदूरों, अछूतों के सवालों को भारतीय सिनेमा के माध्यम से उठाने की बात करता है। कुल मिलाकर इस शोध–कार्य के माध्यम से इस सिद्धांत को मजबूती मिलती है कि भारतीय सिनेमा पर स्वतंत्रता से पूर्व जिन विषयों–संस्थानों–विचारों–व्यक्तियों का महत्वपूर्ण प्रभाव था, उनमें से इप्टा भी एक संस्थान के रूप में विशेष जगह रखता है।

[13] Bniyak,Bhatachary,The left encounter progressive politics and indian cinema to 1950,page204

इप्टा एक प्रकार से संगीतकारों–रंगकर्मियों–लेखकों–राजनैतिक कार्यकर्ताओं का समूह था जो फिल्म निर्माण को लाभ के व्यापार की तरह नहीं देखता था।[14] उनके लिए सिनेमा एक सामजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार माध्यम था, जिसकी बुनियाद पर एक समाजवादी देश की संरचना मुमकिन थी। उपरोक्त शोध कार्य में यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि किस तरह इप्टा के कलाकार–निर्देशक प्रचलित भारतीय सिनेमा की परिपाटी से एक अलग पहचान रखते थे।

अप्रत्यक्ष रूप से इस शोध–कार्य के माध्यम से इप्टा की राजनैतिक प्रतिबद्धता के साथ उससे संलग्न कलाकारों–लेखकों के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। जिससे वर्तमान भारतीय सिनेमा की संगीत क्षमता, अभिनय क्षमता, निर्देशन, गीत की बुनियाद का पता चलता है। भारत रत्न रविशंकर हों या मदर इंडिया के निर्देशक ख्वाजा अहमद अब्बास, गीतकार शैलेन्द्र–शकील बदायूँनी, कैफी आजमी, लेखक कृष्ण चन्दर, भीष्म साहनी, दो बीघा जमीन के निर्देशक विमल राय, अभिनेता–विचारक बलराज साहनी जैसे लोगों की जमघट का नाम था इप्टा, जिनके लिए सिनेमा का अर्थ लोगों का सिनेमा था। इस शोध कार्य के माध्यम से इन सभी लोगों के बारे में पता चलता है।

यही नहीं, इस शोध कार्य ने नेहरु के समाजवादी रुझान को इप्टा के कलाकारों द्वारा वरीयता देने पर भी प्रकाश डाला है। चूंकि यह शोध कार्य 1950 तक भारतीय सिनेमा की वैचारिकी पर आधारित है इसलिए भारतीय सिनेमा के विकास पर भी एक महत्वपूर्ण टिप्पणी करता है, जो इप्टा के कारण आ रहे परिवर्तन को रेखांकित कर रहा है।

भारतीय सिनेमा पर नव यथार्थवाद का भी व्यापक प्रभाव रहा है। फासिस्ट इटली के समय वहां के निर्देशकों ने अनप्रोफेशनल अभिनेताओं, सामाजिक यथार्थ को उसी लोकेशन पर सूट करके बैसिकिल थीव्स जैसी फिल्में बनाईं, जो द्वितीय विश्व युद्ध के भग्नावशेषों को समग्रता से दर्शकों के सामने रख रही थीं। इस प्रकार के नव यथार्थवादी आंदोलन का भारतीय सिनेमा पर भी त्वरित असर हुआ। इसको देखने का प्रयास दिल्ली विश्वविद्यालय के शोध छात्र मनोज

[14] Bniyak,Bhatachary,The left encounter progressive politics and indian cinema to 1950,page205

शर्मा ने किया है। अपने शोध कार्य 'नियो रियलिज्म ऐंड इंडियन सिनेमा' के माध्यम से भारतीय सिनेमा पर इटैलियन यथार्थवादी फिल्मों के प्रभाव की व्याख्या करते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नव यथार्थवाद ने भारतीय सिनेमा के माध्यम से ऐसे विषयों को उठाने में सफलता अर्जित की है जो उससे पहले भारतीय सिनेमा में नदारद थी।

यथार्थवाद से संबद्ध इटली का सिनेमा जर्मनी और इटली के प्रोपगैंडा सिनेमा का काउन्टर था। ऐसा इसलिए क्योंकि जर्मनी और इटली के फासिस्ट तानशाहों ने प्रोपगैंडा फिल्मों के जरिए लोगों की राय और विश्वास को अपने हितों के लिए साधने का प्रयास किया और उसमें सर्वाधिक सफलता भी हासिल की, जो कल्पनाओं और मिथकों पर आधारित था। इससे इतर नव यथार्थवादी सिनेमा जीवन के वास्तविक सच और झूठ के इर्द–गिर्द बनाई गई।[15] यथार्थवादी फिल्में फासिस्ट सिनेमा और कृत्रिम रूप से मानवीय संवेगों को उलझाने वाली फिल्मों के खिलाफ एक मुहिम थीं।[16]

वहीं भारतीय सिनेमा के पास उस समय औपनिवेशिक शासन का दंश था, जिसके कारण भारतीय फिल्मों पर पौराणिक कहानियों का चित्रण आम जनमानस के लिए एक मुफीद मनोरंजन था। अपने शोध कार्य में मनोज शर्मा ने भारतीय सिनेमा के विकास काल को बारीकी से देखा है। साथ ही भारतीय सिनेमा पर गाँधीवादी दर्शन, स्वतंत्रता की आकुलता आदि विषयों की प्रभावी व्याख्या की है। उनका मत है कि अगर इटली में नव यथार्थवादी सिनेमा फासिस्ट ताकतों की तानाशाही के खिलाफ एक मुखर आन्दोलन था, तो वहीं भारतीय सिनेमा के अंदर यथार्थवाद की कल्पना औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध आदर्श और स्वतंत्रता बोध के कारण हाशिये पर छूट गई गरीबी, अस्पृश्यता, सम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास के विमर्श के कारण शुरू हुई। आजादी के बाद केंद्रीकृत सत्ता स्वरूप और संसाधनों के असमान वितरण के कारण एक भारी तबका आजादी के वास्तविक अर्थों से हमेशा की तरह अलग–थलग रहा, जिसे भारतीय सिनेमा ने अपनी अभिव्यक्ति का जरिया बनाया।[17]

---

[15] Sharma Manoj, Neo Realism in Indian cinema1944-69 page247
[16] Sharma Manoj, Neo Realism in Indian cinema1944-69 page247
[17] Sharma Manoj, Neo Realism in Indian cinema1944-69 page250

'आजादी के बाद का भारत' विपिन चन्द्र की ख्यातिलब्ध पुस्तक है, जो आजादी और उसके बाद के भारत के सभी बिंदुओं पर सिलसिलेवार तरीके से टिप्पणी करती हैं। प्रस्तुत शोध कार्य का समय भी आजादी के ठीक बाद वाला दशक है, इसलिए इस किताब में संदर्भित प्रमुख सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक समीकरणों का उल्लेख महत्वपूर्ण है। औपनिवेशिक शासन की कृषि नीतियों के बारे में वे अपने दूसरे अध्याय में टिप्पणी करते हैं, 'औपनिवेशिक शासकों ने यहां एक ऐसे कृषि ढांचे को बढ़ावा दिया, जिस पर जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों और सबसे उपर उपनिवेशवादी राज्य का वर्चस्व स्थापित था'।

औपनिवेशिक शासन काल में भूमिहीन किसानों की संख्या में महत्वपूर्ण इजाफा हुआ। 1951 में भूमिहीन किसानों की संख्या 28 प्रतिशत थी। वहीं एक अन्य हिसाब के मुताबिक जमींदारों, महाराजों और अन्य मध्यस्थों द्वारा राष्ट्रीय आय का तकरीबन बीस फीसदी हिस्सा प्रतिवर्ष हड़प लिया जाता था।[18] यह सभी आंकड़े बताते हैं कि भारतीय स्वतंत्रता के समक्ष आर्थिक चुनौतियाँ किस प्रकार थीं, जिससे हाशिये पर पड़े मजदूर–किसानों की जिंदगी अत्यंत प्रभावित थी। इतना ही नहीं, भारतीय कर ढांचा भी अत्यधिक असमतापूर्ण था, जहां किसानों पर करों का भारी बोझ लाद दिया गया था। वहीं उच्च वर्ग के लोगों को इससे छूट थी।

उपरोक्त ऐतिहासिक संदर्भ भारतीय सिनेमा के महत्वपूर्ण विमर्श बिंदु रहे। तत्कालीन समय की विपदाओं और विषमताओं को बखूबी भारतीय निर्देशकों ने फिल्माया भी। आजादी का दशक बंगाल के अकाल, विश्व युद्ध की त्रासदी, सांप्रदायिक तनाव आदि से जूझता हुआ दशक था। ऐसे समय में इप्टा की स्थापना 25 मई 1943 को मुंबई के मारवाड़ी हाल में प्रोफेसर हिरेन मुखर्जी द्वारा की गई। इस अवसर पर प्रोफेसर मुखर्जी ने देश–भर के कलाकारों, नाटककारों को आह्वान करते हुआ कहा, 'लेखक और कलाकारों, आओ। अभिनेता और नाटककारों आओ। हाथ से और दिमाग से काम करने वाले आओ और स्वयं को आजादी और सामजिक न्याय की नई दुनिया के निर्माण के लिए समर्पित कर दो।''[19] इस उद्घोष के साथ इप्टा का नामकरण प्रसिद्ध वैज्ञानिक होमी जहांगीर भाभा ने किया था। अपने गठन के बाद से ही यह

[18] Chandra Bipin,Aazadi ke baad ka Bharat,page13
[19] Rai Hariyash, Bhishm Sahani Aur Ipta Aandoln,Anushilan,julai2015

एक ऐसे संगठन के रूप में सामने आया, जिसने पहली बार हिंदुस्तान में कलाओं में निहित परिवर्तनकारी शक्ति को पहचानने की कोशिश की।

भीष्म साहनी पर हरियश राय का आलेख बताता है किस–किस प्रकार इप्टा के कलाकारों ने लोक मानस के चित्त पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। अपनी स्थापना के दो वर्षों में ही इप्टा ने पुरे देश में अपना विस्तार किया। 1945 में पूरन चंद जोशी ने इप्टा की गतिविधियों पर टिप्पणी करते हुए कहा, 'मैनें मुंबई और कोलकाता के जन नाट्य संघ के जन संगीत और जन नृत्यों को देखकर मध्यवर्ग के हर विचार के लोगों को खुश होते देखा है। देश के इस सांस्कृतिक नवजागरण की सभी प्रशंसा करते हैं किन्तु यह बहुत ही कम लोग जानते हैं कि यह लहर किसान आन्दोलन के गर्भ से उठी है।''[20]

इस आलेख में हरियश राय ने इप्टा से जुड़े रचनाकारों, कलाकारों, संगीत कर्मियों साहित्यकारों का विधिवत वर्णन किया है। पृथ्वीराज कपूर, बलराज सहनी, दमयंती साहनी, हबीब तनवीर, जोहरा सहगल जैसे अभिनेता हों या कृष्ण चंदर, साहिर लुधियानवी, शैलेन्द्र, मखदूम जैसे गीतकार, सभी इप्टा से संबद्ध रहे। इस्मत चुगताई, ख्वाजा अहमद अब्बास, अली सरदार जाफरी से लेकर संगीतकार रविशंकर, सलिल चौधरी इत्यादि। इस फेहरिश्त में फैज अहमद फैज, सज्जाद जहीर, सचिन शंकर लगभग सभी महनीय रचनाकार, रंगकर्मी इप्टा के हिस्सा रहे। इस तरह इप्टा के पास सांस्कृतिक रूप से एक विस्तृत आकाश का निवेश था, जो उसे एक परिपक्व और परिवर्तनशील आन्दोलन बनाने में सफल रहा।

इप्टा के बारे में इस लेख से उसके सांगठनिक प्रतिबद्धता पर भीष्म साहनी का कथन भी बेहद महत्वपूर्ण है। भीष्म साहनी लिखते हैं, 'किसी भी कालखंड में पाया जाने वाला माहौल, हमारी सांस्कृतिक गतिविधि और साहित्य सृजन को प्रभावित करता है। सिर्फ प्रभावित ही नहीं करता, दिशा भी देता है। इप्टा ऐसे ही तूफानी कालखंड की उपज था। एक ओर देशव्यापी स्वतंत्रता संग्राम के बुलबुले थे। दूसरी ओर समाज के भीतर पाए जाने वाले अंतर्विरोधों के तनाव। उन तनावों को दूर करने, प्रतिगामी शक्तियों से जूझने का दृढ़ संकल्प, एक नए प्रकार की

[20] Rai Hariyash, Bhishm Sahani Aur Ipta Aandoln,Anushilan,julai2015

जागरूकता, इप्टा की सरगर्मियां ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित थीं। जनजीवन से जुड़ने की उत्कट इच्छा इप्टा को प्रेक्षागृहों से बाहर लाने में सफल रही। इस तरह वह विशाल जन आन्दोलन से जुड़ गया।''

इस तरह इप्टा की गतिविधियाँ समाज के सरोकारों को लोक माध्यमों के जरिए एक व्यापक आवाज बना रही थी, जिसका एक राजनैतिक आधार था। भारतीय सिनेमा से इप्टा के कलाकरों का नाता बहुत गहरा रहा था। प्रस्तुत शोध कार्य के माध्यम से इसके विश्लेषण को रेखांकित करने का प्रयास होगा।

शोध का महत्व

भारतीय सिनेमा ने सौ वर्षों का अपना सफर पूरा कर लिया है। इस सफर में कई तरह के परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। आधुनिक भारतीय सिनेमा जिस मुकाम पर है उसके प्रमुख चरणों के विश्लेषण का प्रयास शोधकर्ताओं ने किया है। इप्टा उन प्रमुख चरणों में से एक है। भारतीय सिनेमा से इप्टा के कलाकारों के जुड़ाव को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। चौथे और पांचवे दशक में अपने उरूज पर रहे इस आन्दोलन द्वारा उठाए गए प्रश्न आज भी भारतीय सिनेमा में परिलक्षित होते हैं। कला की सार्थकता और उस रूप में सिनेमा का सामाजिक महत्व आज भी एक महत्वपूर्ण विमर्श है, जिसे हाल–फिलहाल के महत्वपूर्ण निर्माता–निर्देशकों द्वारा हल करने का प्रयास किया जाता है।

पूँजी और प्रचार आधारित सिनेमा से इतर भी एक सिनेमा हमेशा से विश्व के हर एक दर्शक वर्ग में प्रचलित रही है, जिसे लोगों का सिनेमा या वैकल्पिक सिनेमा के नाम से जाना जाता है। इप्टा अपने गठन के समय इसी सिनेमा की बात कर रहा था। आज के इस दौर में जहाँ पूँजी और प्रचार को ही संदेश माना जा रहा है। संसाधनों पर या और जोर देकर कहा जाए तो अभिव्यक्ति के संसाधनों पर कुछ प्रमुख घरानों का कब्जा हो चुका है। इप्टा जैसे आन्दोलन उदाहरण और प्रेरणा के रूप में हमेशा सामने आते रहेंगे।

शोध का उद्देश्य

भारतीय सिनेमा पर इंडियन पीपुल्स थियेटर असोसिएशन के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभावों का विश्लेषण ही शोध का मुख्य उद्देश्य है। जैसा कि उपरोक्त रूप से वर्णित है कि इप्टा कला की प्रासंगिकता को समाज से जोड़कर देखने का पक्षधर था। उसके मूल्य सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से स्थूल बन चुकी विषमताओं को दूर करने के साथ एक समतामूलक समाज की कल्पना में निहित थी। यह शोध कार्य उन सभी महत्वपूर्ण विषयों के सिलसिलेवार अवलोकन पर आधारित है, जिसे इप्टा ने उठाया और फिर भारतीय सिनेमा ने विधिवत आत्मसात किया। साथ ही इप्टा के गठन से पूर्व भारतीय सिनेमा की प्रचलित परिपाटी में निहित विषय क्या थे? इसका विस्तृत अन्वेषणात्मक अध्ययन ही शोध का मुख्य उद्देश्य है।

शोध के प्रश्न

इप्टा के कलाकारों ने लम्बे समय तक भारतीय सिनेमा में अपनी सेवाएं निर्देशक, अभिनेता, गीतकार, पटकथा लेखक के रूप में दीं, इसलिए इस शोध कार्य के प्रमुख प्रश्न निम्नांकित हैं–

1. इप्टा के गठन से पूर्व भारतीय सिनेमा का प्रमुख स्वर क्या था?

2. इप्टा के गठन के बाद भारतीय सिनेमा में किन विमर्शों का उभार देखा गया?

3. इप्टा ने भारतीय सिनेमा में विषयगत बदलावों के इतर और किस तरीके के परिवर्तन किए?

4. अपने संगठनात्मक मूल्यों को भारतीय सिनेमा में स्थापित कराने में इप्टा किस हद तक सफल रहा?

शोध प्रविधि

शोध की प्रकृति विवरणात्मक और तुलनात्मक है, जो इप्टा के गठन से पूर्व के सिनेमा का एक विवरणात्मक अध्ययन उसके गठन के बाद से सिनेमा से तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत कर रहा है, जिसकी प्रवृत्ति अपने रूप में आलोचनात्मक है। साथ ही अपने निष्कर्ष के लिए चौथे और पांचवे दशक की प्रमुख पांच फिल्मों के विषयवस्तु विश्लेषण पर आधारित है। ये चार फिल्में हैं– धरती के लाल (ख्वाजा अहमद अब्बास), 'दो बीघा जमीन' (विमल राय–इप्टा से संबद्धता), नीचा नगर, (चेतन आनंद–इप्टा से संबद्धता), 'प्यासा' (गुरु दत्त) और 'जागते रहो' (शम्भू मित्र–इप्टा से संबद्धता)। पांचो फिल्मों और फिल्मों के निर्देशक प्रत्यक्ष रूप से इप्टा से जुड़े रहे हैं। वहीं गुरु दत्त और राज कपूर के बिना पांचवें दशक की कमर्शियल और आर्ट फिल्मों की कल्पना संभव नहीं है। चारों फिल्मों में निर्देशक, पटकथा लेखक, संगीतकार, गीतकार किसी न किसी रूप में इप्टा के कलाकारों की भूमिका के कारण इन फिल्मों के चयन को प्राथमिकता दी गई है।

उपरोक्त चारों फिल्मों को राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय मंचों पर काफी सराहा गया है। इसके साथ ही इस शोध के माध्यम से यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि इप्टा के गठन से पूर्व भारतीय सिनेमा में स्थापित प्रमुख विषय क्या रहे हैं? इन विषयों को फिल्म के द्वारा किन प्रेरणाओं के तहत उठाया जा रहा था? इनका सिलसिलेवार विश्लेषण शोध के दूसरे अध्याय में किया गया है।

प्रस्तुत शोध का तीसरा अध्याय स्वतंत्रता के बाद भारतीय सिनेमा द्वारा उठाए जा रहे विषयों पर केन्द्रित है। साथ ही वहां यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि उन विषयों को भारतीय सिनेमा में स्थापना के प्रमुख राजनैतिक–सामाजिक कारक कौन से रहे हैं? अथवा वे कौन से मूल्य हैं जिन्हें भारतीय सिनेमा ने स्वतंत्रता के बाद प्रमुखता से उठाया? अर्थात भारतीय सिनेमा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद किस तरह अपने पिछले दशकों से भिन्न है? इनके विश्लेषण के बाद भारतीय सिनेमा पर इप्टा के कलाकारों द्वारा किए गये हस्तक्षेप और लाए

गए परिवर्तन को चौथे अध्याय में देखने का प्रयास किया गया है। जहाँ पांचवें दशक की प्रमुख फिल्मों के माध्यम से उस परिवर्तन अथवा प्रभाव को स्थापित करने का प्रयास होगा।

निष्कर्ष

भारतीय सिनेमा की शुरुआत औपनिवेशिक सत्ता के अंधकार से लड़ते हुए प्रारम्भ होता है। शुरू में इसे एक मनोरंजन का माध्यम भर समझा गया लेकिन विश्व सिनेमा के प्रमुख निर्देशकों ने इसे अभिव्यक्ति का सबसे तीखा जरिया बनाने के लिए शुरुआती प्रयास किए, जिसमें यूरोप के निर्देशकों ने सफलता भी अर्जित किया। धीरे–धीरे यह अभिव्यंजना वाद से यथार्थ के चित्रण का जरिया बनने लगा, जिसे विश्व के साथ भारतीय सिनेमा के भी निर्माता–निर्देशकों ने अंगीकार किया। विश्वयुद्ध के बाद वैश्विक सिनेमा राजनैतिक रूप से सशक्त हो चुका था। वहीं उसे जर्मनी और इटली की फासिस्ट ताकतों ने प्रोपगैंडा का भी माध्यम बनाया। औपनिवेशिक देशों जैसे भारत के लिए यह एक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना का जरिया बनने लगा, जिसके कारण सेंसर बोर्ड की शुरुआत हुई जो आज तक प्रासंगिक बनी हुई है। सिनेमा के सफर को उस दौर की प्रमुख राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियां प्रभावित करती रहीं जिसके कारण अपने विषय वस्तु को रोचक और प्रामाणिक बनाने के लिए सिनेमा जगत में द्वंद आज भी बना हुआ है।

अध्याय 2 :

इप्टा के गठन से पूर्व भारतीय सिनेमा का मुख्य स्वर

भूमिका

अध्याय एक में भारतीय और विश्व सिनेमा के शुरुआत पर संक्षिप्त चर्चा की गई है। इस अध्याय में हम देखेंगे कि भारतीय सिनेमा अपने शुरुआती दौर में किन विषयों को केंद्र बिंदु बनाकर दर्शकों के बीच पहुंच रहा था? साथ ही भारतीय सिनेमा के शुरुआती रुझानों में सबसे लोकप्रिय रुझान कौन सा था, जिसको सबसे ज्यादा फिल्माया और दर्शकों द्वारा सराहा गया? इन प्रश्नों के उत्तर को भारतीय लोक मानस में उस वक्त व्याप्त मिथकीयता और पौराणिक चेतना के माध्यम से समझा जा सकता है।

मुगल काल के बाद भारतीय लोकमानस पर भक्तिधारा और उसके साहित्य का भरपूर प्रभाव था। हिंदी साहित्य के इतिहास नामक पुस्तक में आचार्य शुक्ल ने लिखा है– ''जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[21] इस तरह लम्बे समय तक लोक मानस के मन में भक्ति की भावधारा भरी पड़ी थी। अंग्रेजी शासन के दुश्चक्र ने इस पीड़ा को और घनीभूत किया, जिसके परिणामस्वरूप 20वीं सदी की शुरुआत तिलक और गोखले जैसे दक्षिणपंथ की तरफ रुझान रखने वाले राजनेताओं के राजनैतिक आंदोलनों से हुई और कालान्तर महात्मा गांधी का प्रादुर्भाव हुआ।

ऐसे में भारतीय सिनेमा के शुरुआती दशक इन रुझानों से कैसे स्वतंत्र हो सकते थे। यही कारण था कि भारतीय भाषा की पहली बोलती फिल्म सतयुग के राजा हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा पर आधारित थी। साल 1912 में महज 15 हजार रूपये की लागत से बनी 3700 फीट लंबी राजा हरिश्चन्द्र का निर्देशन हिंदी सिनेमा के पितामह दादा साहब फाल्के ने किया था।[22] फिल्म का कथानक पौराणिक था।

---

[21] Shukla Ramchandra:Hindi Sahitya Ka Itihaas:Sahitya Sarovar,page30
[22] Vplav Vinod:Bahuvachan:MGAHV,Page35

फिल्म राजा हरिश्चंद्र का एक दृश्य (फोटो साभारः अपरस्टॉल डॉट कॉम)

सत्य और आदर्शों पर आधारित इस फिल्म को बम्बई के कोरोनेशन सिनेमा घर में प्रदर्शित किया गया था, जिसे दर्शकों ने खूब सराहा। इसके बाद से पौराणिक विषयों पर आधारित फिल्मों ने लम्बे समय तक भारत की सभी भाषाई फिल्मों पर अपना वर्चस्व बनाए रखा।

मूक भारतीय सिनेमा का पौराणिक पाठ– 1910 से 20 का दशक

लम्बे समय तक भारतीय सिनेमा की आधार कथा पौराणिक रही। इसे हम उस दौर की प्रदर्शित फिल्मों के नाम और उनके कथावस्तु के आधार पर रेखांकित कर सकते हैं। सबसे पहले दादा साहेब फाल्के और उनके द्वारा बनाए गए फिल्मों की चर्चा होनी जरूरी है। दिसम्बर 1910 की एक अनोखी घटना ने दादा साहेब फाल्के को फिल्म निर्माण के लिए प्रेरित किया। फिल्म 'लाइफ ऑफ क्राइस्ट' देखने के बाद उनकी आंखों में भारतीय मिथकों के चित्रण के ख्याल परवाज लेने लगे। उन्होंने गोकुल और अयोध्या के चित्रण का ख्याल जीवंत रूप लेने लगा। जीसस पर बनी फिल्म ने उनको राम और कृष्ण पर फिल्म बनाने के लिए प्रेरित

किया। उनके लिए स्मृतियों में ठहरी कहानियों को निर्देशित करने के लिए फिल्म एक अनोखा माध्यम लगा।[23]

राजा हरिश्चंद्र के निर्देशन के बाद लगभग अपनी सभी फिल्मों की कथावस्तु को दादा साहब फाल्के ने पौराणिक रखा। अपनी दूसरी फिल्म मोहिनी भष्मासुर जो ऐतिहासिक रूप से इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि पहली बार किसी अभिनेत्री (दुर्गा गोखले) ने इसमें अभिनय किया था। इस फिल्म की कहानी भी विष्णु और भष्मासुर पर आधारित रही। 1914 में अपनी तीसरी फिल्म सत्यवान–सावित्री की कहानी भी लोक में उपस्थित पौराणिक आख्यान पर आधारित थी। प्रथम विश्व युद्ध के समय फाल्के ने राम और सीता के चरित्र पर आधारित लंका दहन का निर्माण किया। इसने दादा साहब फाल्के की लोकप्रियता में चार चांद लगा दिए। राम और सीता का किरदार सालुंके ने ही निभाया था जो राजा हरिश्चंद्र में तारावती का किरदार निभा चुका था। ऐसा कहा जाता है कि फिल्म 'लंका दहन' इतनी लोकप्रिय हुई कि उससे हासिल रकम को पुलिस संरक्षण में बैलगाडी पर लादकर नासिक फाल्के निवास तक ले जाया जाता था।[24] श्रीकृष्ण जनम (1918), कालिया मर्दन (1919) इस दौर में प्रदर्शित उनकी अन्य फिल्में हैं। इस दौर में सती विषयक लगभग 31 फिल्मों का निर्माण हुआ।[25] संस्कृत के विद्वान अपने पिता से उन्होंने पुराणों–उपनिषदों की कहानियां सुन रखी थीं। बाद में फाल्के ने अपनी अंतिम रंगीन फिल्म गंगा अवतरण (1937) तक इन्हीं पौराणिक कहानियों को फिल्माने का प्रयास किया।

शुरुआती कमर्शियल सफलता अर्जित करने के बाद दादा साहब फाल्के ने हिंदुस्तान फिल्म कम्पनी का निर्माण किया और अपने सहयोगियों के साथ फिल्में निर्मित कीं। बाद में उन्होंने डायमंड कंपनी का भी निर्माण किया। इन दोनों संस्थाओं ने भारतीय सिनेमा के लिए तकनीकी शब्दावलियों के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यहां एक बात और याद रखने की जरूरत है कि फाल्के ने अपने करियर की शुरुआत राजा रवि वर्मा के सहयोगी के रूप में की थी,

[23] Dass, M. (2009). The Crowd outside the Lettered City: Imagining the Mass Audience in 1920s India. Cinema Journal, 48(4), 77-98. Retrieved November 30, 2020, from http://www.jstor.org/stable/25619729

[24] Kathariya,Dharvesh:Bahuvachan:MGAHV,Page65

[25] Roy, P. (2003). CINEMA AS SOCIAL DISCOURSE. Proceedings of the Indian History Congress, 64, 1185-1191. Retrieved December 1, 2020, from http://www.jstor.org/stable/44145546

जिनकी कला यात्रा समूचे देश को पहली बार देवी–देवताओं के चित्रों से मुखातिब करने से सम्बंधित है। वहीं भारतीय दर्शकों के लिए भी एक बार अपने देवी–देवताओं को पर्दे पर देखने की ललक उसमें निहित कर्तव्यबोध, सदाचार, नैतिकता ने सिनेमा को कला के रूप में लोकप्रिय कर दिया।[26] लन्दन से फिल्म निर्माण की तकनीकी सीखने के बाद फाल्के ने अपना सारा जीवन मिथकीय चरित्रों पर फिल्म निर्माण के लिए न्यौछावर कर दिया।

पौराणिक कहानियों के प्रदर्शन से उस समय के तत्कालीन हुकूमत को भी परहेज नहीं था। यही कारण था कि फाल्के ने अपने फिल्म निर्माण को एक सीमा तक सीमित रखा। भारतीय सिनेमा में पौराणिक कहानियों का प्रचलन लंबे समय तक बना रहा। धीरे–धीरे अन्य विषयों में बढ़ोत्तरी होना तब शुरू हुआ जब भारतीय फिल्म निर्देशकों ने सिनेमा की लोकप्रियता को भुनाना शुरू किया, जबकि दादा साहब फाल्के के लिए सिनेमा का अर्थ कभी लाभार्जन नहीं रहा। यही कारण था कि उन्होंने अपने दो दशकों की सिनेमा यात्रा को कई कठिनाइयों से जूझते हुए पूरा किया। बम्बई और फिर नासिक तक उनका यह संघर्ष चलता रहा और अंत भी एक नामालूम व्यक्ति की तरह हुआ।

अपने दो दशकों की यात्रा में दादा साहेब फाल्के की फिल्मों का मूल स्वर पौराणिक आख्यान रहे, लेकिन जैसे–जैसे स्वतन्त्रता संघर्ष तेज हुआ, सिनेमा के विषयों में तब्दीली आनी शुरू हुई। गुजरात और बंगाल की पृष्ठभूमि से निर्माता–निर्देशकों कि आमद होने लगी। लिहाजा पौराणिक विषयों से कथा का झुकाव ऐतिहासिक फिल्मों की तरफ होने लगा।

ऐतिहासिक फिल्मों का दौर 1920 से 30 का दशक

मूक सिनेमा की शुरुआत दादा साहब फाल्के से हुई, जिनके यहां पौराणिक विषयों की भरमार थी। माना जाता है कि मूक सिनेमा के दौर में लगभग 1300 के आसपास फिल्में बनीं। इनमें पौराणिक फिल्मों का वर्चस्व ज्यादा रहा लेकिन समय के साथ अन्य विषयों से सम्बन्धित

[26] Sudhakr Salil, Bahuvachan:MGAHV,Page27

फिल्मों का भी निर्माण होता रहा।[27] 20 के दशक में सिनेमा के सर्वाधिक निकट रंगमंच के विषय तब ऐतिहासिक हो चुके थे। अपनी रोमांटिक प्रवृत्ति के कारण और पारसी रंगमंच के प्रभाव में रंगमंच उस समय बम्बई, सूरत, कोलकाता, दिल्ली आदि बड़े शहरों में काफी लोकप्रिय हो चला था। वहीं साहित्य में नाटकों की एक प्राचीन विधा मौजूद थी, जिसका धीरे–धीरे संस्कृत से हिंदी पट्टी में विस्थापन हो रहा था। रंगमंच विशेषकर पारसी थिएटर से जुड़े लोगों ने सिनेमा के सामर्थ्य को पहचानने में देर नही लगाई। फिल्मों की बढ़ती लोकप्रियता के इसी दौर में भारतीय सिनेमा के प्रथम नायक–नायिकाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

बंगाल की पृष्ठभूमि से आने वाले धीरेन्द्र नाथ गांगुली तथा जेएफ मदान का नाम भारतीय सिनेमाई यात्रा में लेना बेहद महत्वपूर्ण होगा। टैगोर के नेतृत्व में बंगाल नवजागरण से गुजर रहा था। कला, साहित्य, नृत्य और रंगमंच पर टैगोर का व्यापक असर था। बंगाल के शिक्षित युवा वर्ग को इस आदर्शवादी भावना ने काफी प्रेरित किया, जिसमें से जेएफ मदान और धीरेन्द्रनाथ गांगुली का नाम सिनेमा के लिए महत्वपूर्ण है।[28]

मदान की पहली फिल्म नल दमयन्ती (1921) थी, तो वहीं धीरेन्द्रनाथ गांगुली की विलेत फेरात (इंग्लैंड रिटर्न, 1921) थी, जिसकी कहानी में हास्य और व्यंग के पुट थे। लेडीज टीचर और मैरिज टॉनिक दोनों साल 1922 में प्रदर्शित हुईं। इनकी कहानी भी हास्य और व्यंग से भरपूर थी, लेकिन साल 1924 में गुलाम वंश के शासक इल्तुतमिश की बेटी रजिया सुल्तान पर उन्होंने फिल्म रजिया बेगम का निर्माण किया। फिल्म का निर्माण हैदराबाद के निजाम के सहयोग से हुआ था, जिसके कारण उनको हैदराबाद छोड़ना पड़ा।[29] दो साल बाद उन्होंने एम्बर पैलेस राजस्थान में रानी पद्मिनी के जीवन पर आधारित 'फ्लेम्स आफ फ्लेश' का निर्माण किया। ऐतिहासिक फिल्मों का निर्माण बीसवीं सदी के तीसरे दशक में छाया रहा।

---

[27] Dass, M. (2009). The Crowd outside the Lettered City: Imagining the Mass Audience in 1920s India. Cinema Journal, 48(4), 77-98. Retrieved November 30, 2020, from http://www.jstor.org/stable/25619729

[28] MASSEY, R. (1974). THE INDIAN FILM INDUSTRY. Journal of the Royal Society of Arts, 122(5214), 369-381. Retrieved November 30, 2020, from http://www.jstor.org/stable/41371253

[29] https://www.cinemaazi.com/people/dhiren-ganguly

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में गांधी का उत्कर्ष चरम पर था, तो रसियन क्रांति के साम्यवादी प्रभाव के कारण भारत में भी क्रांतिकारी उथल–पुथल तेज हो रही थी। भगत सिंह और उनके साथियों का भी प्रभाव आम जनमानस के बीच लोकप्रिय था। इन्ही सभी कारणों को देखते हुए ब्रितानी हुकूमत ने 1927 में सिन्मैटोग्राफ कमिटी का गठन किया, जिसमें तीन भारतीय और तीन यूरोपीय सदस्य थे। कमिटी का मूल मकसद था सिनेमा के लिए आवश्यक निर्बन्धनों का रेखांकन। कमिटी ने अपनी रिपोर्ट को पांच खंडों में प्रकाशित किया, जिसके अंतर्गत सेंसरशिप, साम्प्रदायिकता के प्रश्न तथा पाश्चत्य संस्कृति के फिल्मांकन से जुड़े मुद्दों पर गम्भीर सुझाव थे।[30]

विश्व युद्ध के बाद भारत और यूरोप काफी प्रभावित हुआ, जिसके कारण अमेरिकी फिल्म उद्योग ने औपनिवेशिक राज्यों में अपनी पकड़ मजबूत कर ली। जो भारतीय फिल्म उद्योग के लिए खतरे की घंटी थी। इसी समय भारतीय जनमानस में भी अपनी स्वतंत्रता के लिए माहौल बनने का सूत्रपात हो रहा था। यह एक ऐसा समय था, जब बिना अपने इतिहासबोध के औपनिवेशिक सराकर से लड़ना सम्भव नहीं था इसलिए सिनेमा भी ऐतिहासिक घटनाओं को अपनी अभिव्यक्ति का जरिया बना रहा था।

ऐतिहासिक फिल्मों की तरफ रुझान का मुख्य कारण था, औपनिवेशिक नीतियों के विरुद्ध स्वदेशी अभिमान का निरूपण। इस समय बंगाल के निर्माता–निर्देशकों में हिमांशु राय का नाम भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपनी पढ़ाई–लिखाई लंदन से हासिल की थी और बुद्ध के जीवन पर आधारित फिल्म 'लाईट आफ एशिया' (1925) का निर्माण किया। हिमांशु राय पर भी बंगला नवजागरण का काफी प्रभाव था। उनकी शुरुआत शांति निकेतन से हुई थी। ऐसे में गुरुवर टैगोर के विश्व बंधुत्व से वे कहां अलग रह पाते। उन्होंने विदेशी सहयोग (UFA) से शिराज (1928) और अगले वर्ष 'थ्रो ऑफ डाईस' का निर्माण किया।

[30] MASSEY, R. (1974). THE INDIAN FILM INDUSTRY. Journal of the Royal Society of Arts, 122(5214), 369-381

चित्रः देविका रानी और हिमांशु राय

हिमांशु राय भारतीय सिनेमा के मूक दौर को शैलीगत रूप से परिवर्तनशील बनाते रहे। वहीं उन्होंने सामजिक असमानता पर भी 'अछूत कन्या' (1936) जैसी फिल्मों का निर्माण किया। देविका रानी जो उनकी पत्नी भी थीं उन्होंने 'कर्मा' (1933) फिल्म में काम किया और रातों–रात सेंसेशन का अभिप्राय बन गईं। इस तरह हिमांशु राय ने अपनी फिल्मों से अंतरराष्ट्रीय स्तर का प्रभाव पैदा किया।

सदी का दूसरा दशक अमरीकी प्रभाव वाले फिल्मों की चपेट में काफी रहा। फिर भी बंगाल और देश के अन्य हिस्सों से सिनेमा की समझ रखने वाले लोगों का आगमन इस सदी में हो रहा था। इस तरह दूसरे दशक में हिंदी सिनेमा पर जिन महत्वपूर्ण निर्देशकों ने प्रभाव उत्पन्न किया वे बंगाल के ही थे। तकनीकी के विकास के साथ भारतीय सिनेमा में नायक–नायिका

और मिथकों के स्थान पर ऐतिहासिकता ने जगह बनाई, जो धीरे–धीरे अगले दशक में समाज में व्याप्त असामनता और मनुष्यता के सवालों को रेखांकित करने में सफल हुई।

सवाक सिनेमा का दौर और हिंदी सिनेमा का उदय–1930 से 40 का दशक

हिंदी सिनेमा से तात्पर्य है, फिल्मों के माध्यम में हिंदी/हिन्दुस्तानी ध्वनि का पहली बार प्रयोग। चूंकि इससे पहले फिल्में मूक हुआ करती थीं, अतः उनको मुख्य रूप से हिंदी सिनेमा नहीं कहा जा सकता था। सिनेमा में ध्वनि के विस्तार ने संवाद–गीत–संगीत के रास्ते सुगम किए। इस तरह एक माध्यम के रूप में सिनेमा ने अपनी वास्तविक क्षमता के साथ दर्शकों के बीच जाना शुरू कर दिया। भारतीय सिनेमा के इस तीसरे दशक ने काफी नए कलेवर की फिल्में दीं, जो सामाजिक और राजनैतिक रूप से अपने पिछले दशकों से हर मामले में अलग थीं। यहां यथार्थ की आहट थी। समाज की कुरीतियों और रुढ़ियों पर प्रहार और प्रश्न थे।

जैसा कि सर्वविदित है कि पहली बोलती फिल्म का खिताब आलमआरा(1931) के पास है, जिसका निर्देशन अर्देशिर इरानी ने किया था। फिल्म ने सफलता के परचम बुलंद किए। इस दौर के महत्वपूर्ण निर्देशकों में हिमांशु राय और वी शांताराम का नाम उल्लेखनीय है। जैसा कि पहले हमने चर्चा की है कि हिमांशु राय ने भारतीय सिनेमा को एक दशा और दिशा देने के लिए कई रोचक फिल्मों का निर्माण सदी के दूसरे दशक में किया। उस समय उनकी फिल्मों का निर्माण विदेशी एजेंसियों और निर्देशकों के सहयोग से हो रहा था लेकिन तीसरे दशक की शुरुआत में वे सपत्नीक भारत लौटे और कर्मा का निर्माण किया, जिसमें फिल्माया गया चुम्बन का दृश्य भारतीय सिनेमा में प्रथम अन्तरंग दृश्य का खिताब रखता है। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उस समय की परिस्थितियों में ऐसा अलहदा सोचना काफी जोखिम भरा काम था। पर्दों पर भारतीय नायिकाओं की उपस्थिति न के बराबर थी। ऐसे में देविका रानी ने भारतीय सिनेमा में एक सनसनी को उम्मीद दी, जिसके बाद रुढ़ियों की अकड़न कम होने लगी। साल 1933 में प्रदर्शित कर्मा ने भारतीय फिल्म उद्योग के लिए कई रास्ते तैयार किए। उनमें से सबसे महत्वपूर्ण था गीत–संगीत और नृत्य का भावपूर्ण प्रदर्शन।

अमरीकी फिल्मों का दौर भारतीय सिनेमा में ध्वनि के अवतरण के बाद लदने लगा था। जैसे ही सवाक फिल्मो का दौर शुरू हुआ, सिनेमा के पास अपने दर्शकों को सुनाने के लिए बहुत कुछ मिल गया। चूंकि भारतीय रंगमंच प्राचीन काल से ही गीत–संगीत–नृत्य से सराबोर शैली थी इसलिए सिनेमा में इस संस्कृति के उद्भव ने उसे लोगों के बीच लोकप्रिय बनाने में कोई कसर नही छोड़ी।[31] इस दौर में म्यूजिकल फिल्मों ने जबर्दस्त धूम मचाई। गीतों की लोकप्रियता का आलम ऐसा था कि फिल्म इन्द्रसभा में 5 दर्जन से अधिक गीत प्रदर्शित किए गए। इस तरह संगीत प्रधान फिल्मों में कथा अनुपस्थित होती थी। व्यावसायिकता के कारण इन फिल्मों के प्रदर्शन में इनके गीत–संगीत कारगर सिद्ध होते थे।

मूक फिल्में कथा–सन्देश और नायक प्रधान होती थीं। ध्वनि के कारण अब फिल्मों के लिए गायक–गीतकार–संवाद लेखक–संगीतकार की अनिवार्यता होने लगी। इस दौर में सिनेमा से और फिर हर तरह की कला से जुड़ाव रखने वाले लोगों ने बम्बई की ओर कूच किया। इस दौर की फिल्मों ने फिर कला के अन्य अभिव्यक्तियों को तोड़ा–मरोड़ा भी। स्थिति यहां तक आ गई कि संगीत और नृत्य में सम्पन्न भारतीय धरोहर का क्षरण भी इस दौर में खूब हुआ।[32] अगर चंदुलाल शाह द्वारा निर्मित गणसुन्दरी, पीसी बरुआ द्वारा निर्मित देवदास और प्रभात फिल्म कम्पनी द्वारा निर्मित संत तुकाराम को छोड़ दिया जाए तो इस दौर का सिनेमा गीत–संगीत की भेंट चढ़ गया।

फिल्में सुखांत प्रधान होती थीं। ऐसा इसलिए भी था क्योंकि भारतीय दर्शन में दुःख की जगह जगत को माया कहा गया है, इसलिए फिल्मों का अंत ट्रैजेडी से इतर थी। देवदास, अछूत कन्या जैसी फिल्मों को हटकर देखने पर उस दौर की फिल्मों में इस तरह की समाप्ति को ही प्रधान बनाया गया। पीसी बरुआ द्वारा निर्देशित देवदास शरतचंद्र के उपन्यास पर आधारित थी तो वहीं अछूत कन्या एक ब्राह्मण युवक के प्रेम–प्रसंग की कहानी थी, जो आज भारतीय सिनेमा के क्लासिकी में शुमार है। वी शांताराम के प्रभात कम्पनी द्वारा बनाई गई संत तुकाराम ने वेनिस में खिताब अर्जित कर भारतीय सिनेमा को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाई। वी

[31] MASSEY, R. (1974). THE INDIAN FILM INDUSTRY. Journal of the Royal Society of Arts, 122(5214), 369-381
[32] MASSEY, R. (1974). THE INDIAN FILM INDUSTRY. Journal of the Royal Society of Arts, 122(5214), 369-381

शांताराम ने इस दौर में अमर ज्योति और आदमी का निर्माण 1936 में किया, जिसके विषय सामाजिक तनाव से ओतप्रोत थे। आदमी की कहानी एक वेश्या के सम्मानपूर्ण जीवन जीने पर आधारित थी। वहीं 1937 में प्रदर्शित उनकी फिल्म 'दुनिया न माने' मास्टरपीस मानी जाती है। इन सभी फिल्मों के केंद्र में स्त्रियां थीं। दुनिया न माने को दृश्यकाव्य से नवाजा गया।[33]

इस तरह इस दौर में सिनेमा ने सिर्फ एक ही उपलब्धि हासिल की, जो उस समय की सबसे बड़ी उपलब्धियों में थी। वह है उसके द्वारा तैयार किया गया अपना बाजार। इस दौर में सिनेमा ने कमर्शियल सफलता के लिए प्रेरित रहने के लिए अपने रुझान स्पष्ट किए। ऐसा इसलिए भी था क्योंकि इस दौर में तकनीकी के खर्च और एक फिल्म में निवेशित लोगों को होने वाले भुगतान ने पूरी प्रक्रिया को और खर्चीला बना दिया था।

तीसरे दशक का सिनेमा और गीत–संगीत

आलमआरा का पहला गीत गाया था, वजीर मोहम्मद खान ने। गीत के बोल थे 'दे दे खुदा के नाम पे प्यारे अगर कुछ देने की चाहत हो'। तीसरे दशक के सिनेमा के पास गीत–संगीत की उपस्थिति को नजरअंदाज करना वर्तमान फिल्म उद्योग को समझने में मुश्किल पैदा कर सकता है लेकिन दुर्भाग्यवश आलमआरा के गीत रिकॉर्ड आज मौजूद नहीं हैं।[34] बाद में माधुरी फिल्म के निर्माण के बाद गीतों के रिकॉर्ड का चलन बढ़ा। आज भी माधुरी फिल्म में गाए गीत शास्त्रीय गायक विनायक पटवर्धन की आवाज में संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

फिल्मी गीतों की लोकप्रियता का असर ऐसा हुआ की उस दौर में गीत–संगीत प्रधान फिल्मों की बाढ़ आ गई। न्यू थिएटर्स, प्रभात स्टूडियों और बाम्बे टाकीज ने सिनेमा के संगीत निर्माण को काफी रोचक बनाया। राय चंद बोराल, सरस्वती देवी (मिनोचर होमजी), पंकज मलिक, तिमिर बरन इन स्टूडियों से जुड़े महत्वपूर्ण संगीतकार थे। इन संगीतकारों ने उस दौर में यादगार धुनों का निर्माण किया। सामाजिक विषयों पर फिल्म बनाने के लिए प्रसिद्ध बॉम्बे टॉकीज की फिल्मों में 'अछूत कन्या', 'बंधन', 'झूला', 'जीवन नैया' अपनी कथावस्तु के साथ ही

[33] Roy, P. (2003). CINEMA AS SOCIAL DISCOURSE. *Proceedings of the Indian History Congress*, *64*, 1185-1191. Retrieved December 1, 2020, from http://www.jstor.org/stable/44145546
[34] Dutt Sharad,Bahuvachan,page106

अपने संगीत के लिए भी दर्शकों के बीच सराही गई।[35] न्यू थिएटर्स ने टैगोर, शरतचंद्र को आधार बनाकर फिल्मों का निर्माण किया तो वहीं प्रभात फिल्म ने अयोध्या के राजा, अमृत मंथन जैसी फिल्मों के निर्माण में संगीत के पक्ष को सिनेमा में रेखांकित करने का प्रयास किया।

स्टूडियो के निर्माण के कारण उसमें गीत–संगीत के लिए अलग प्रभाग की शुरुआत होना तीसरे दशक की सिनेमा की मूल प्रवृत्ति भी है क्योंकि इससे पहले मूक सिनेमा में यह संभव नहीं था। कुंदन लाल सहगल तक अभिनेता ही गायक की भूमिका में रहा लेकिन धीर–धीरे पार्श्व गायन की शुरुआत हुई। साल 1935 में न्यू थिएटर्स द्वारा निर्देशित फिल्म धूप–छांव में पारुल घोष का स्वर पार्श्व–गायन की पहली आवाज बनी। इस दौर की फिल्मों में अधिकांश गीत–संगीत भजन और मुजरे की श्रेणी के होते थे। न्यू थिएटर्स के संगीतकारों को बाद में संगीत के योगदान के लिए दादा साहब फाल्के पुरस्कार से नवाजा गया। पंकज मलिक, बोराल और कानन देवी न्यू थिएटर्स के महत्वपूर्ण संगीतकार थे।

इस तरह भारतीय सिनेमा का तीसरा दशक अविष्कारों और तकनीकियों के मिश्रण तथा सिनेमा में नए प्रयोगों का दशक बना। वह पहली बार रैखिक से चक्रीय हुआ और बहुआयामी कलाओं को समेटकर अपनी क्षमता को भारतीय जनता के बीच रेखांकित करने में सफल हुआ। आज समूचा भारतीय फिल्म उद्योग तीसरे दशक में अंगीकार की गई सिनेमाई परिपाटी से खुद को अलग नहीं कर सका है। इसलिए अगर कहा जाए कि वर्तमान भारतीय सिनेमा का मूर्त रूप तीसरे दशक में अवतरित हुआ तो यह कहीं से अतिशयोक्ति नहीं होगा।

[35] Dutt Sharad,Bahuvachan,page106

निष्कर्ष

अपने प्रारम्भ में भारतीय सिनेमा सीमित संसाधनो, ज्ञान के अभाव और अंग्रेजी हुकूमत के कारण कला के रुप में अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षरत रहा। फाल्के और उनके बाद के निर्देशकों ने सिनेमा की अवधारणा को सबसे पहले पौराणिकता और राष्ट्रीयता के साथ जोड़ने में सफलता अर्जित की। वहीं तीसरे दशक के सिनेमा ने इसे सामाजिक और सांस्कृतिक मोर्चे पर उकेरा। औपनिवेशिक सरकार ने प्रेस के समानांतर सिनेमा को भी अंग्रेजी हुकूमत के लिए खतरनाक माना। फिर भी भारतीय निर्देशकों ने अभिव्यक्ति के खतरे उठाए और बहुआयामी सिनेमा का निर्माण कर भारतीय सिनेमा की आधारशिला को मजबूती प्रदान की।

जहां दूसरे दशक का सिनेमा पौराणिकता और बहुसंख्यक हिंदुओं के नायकों, देवी–देवताओं के चल चित्रण पर आधारित था तो वहीं तीसरे दशक में सिनेमा ने सामाजिक यथार्थ का चित्रण रोचक तरीके से करके दुनिया में ख्याति अर्जित की। एक देश के रूप में अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत इस देश को भारतीय सिनेमा ने इसके सांस्कृतिक चेतना को रुपहले पर्दे पर जीवित कर संघर्ष के लिए प्रेरित करने का प्रयास किया तो दूसरी तरफ इस देश मे व्याप्त सामजिक कुरीतियों और रुढ़ियों की जमकर आलोचना भी की। इस तरह से देखने पर भारतीय सिनेमा का तीसरा दशक व्यक्तिगत सिनेमा से लेकर सामूहिक सिनेमा तक अपनी यात्रा के लिए जाना जाएगा। जहां व्यक्तिगत सिनेमा का अर्थ है, निर्देशक और उसके एकल प्रयास से निर्मित सिनेमा। वहीं सामूहिक सिनेमा से तात्पर्य है स्टूडियों में तैयार सिनेमा जो विभिन्न व्यक्तियों के नियोजन से निर्मित हो रहा था।

इप्टा के गठन से पूर्व भारतीय सिनेमा गीत–संगीत के प्रादुर्भाव के लिए भी जाना जाएगा। साथ ही इस दौर में हिंदी–उर्दू स्फीयर में रचे जा रहे साहित्य से भी प्रथम परिचय के रूप में इसका अवलोकन किया जा सकता है। संगीत की उपस्थिति के कारण सिनेमा का प्रचार गानों के माध्यम से दूर–दराज तक आसनीं से होने लगा इसलिए तीसरे दशक के सिनेमा को सिनेमा उद्योग और पूंजी के निर्माण और लाभ के उद्देश्य से फिल्म निर्माण के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

अध्याय 3

सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में इप्टा का उदघोष

इप्टा एक राजनीति से उपजी सांस्कृतिक मुहीम–

विश्वयुद्ध के छिड़ जाने के बाद औपनिवेशिक हुकूमत कमोबेश कमजोर हो चली थी। गाँधी–नेहरु–सुभाष की तिकड़ी हिन्दुस्तानी आवाम को आंदोलित करने में लगी थी। तो वहीं मुस्लिम लीग और हिन्दू पुरातनपंथी संगठनों ने दो राष्ट्र की आवाज को अपना मूल अजेंडा बना लिया था। 19वीं सदी का चौथा दशक, एक राज्य के रूप में अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत भारत का प्रमाण कहीं से नहीं रह गया था। देश कई धड़ों में विभाजित सम्प्रदायवाद के भेंट चढ़ चुका था। भारत छोड़ो आन्दोलन के कारण देश के अंदर अंग्रेजी हुकूमत के प्रति रोष चरम पर था। यह 1943 का साल था और 25 मई का दिन। बम्बई के मारवाड़ी हाल में इप्टा की स्थापना समारोह में बोलते हुए प्रोफेसर हिरेन मुखर्जी ने देश के कलाकरों से आह्वाहन किया–

''जो कुछ भी हमारे भीतर सबसे अच्छा है, उसे अपनी जनता के लिए अर्पित कर दें। लेखक और कलाकार आओ, आओ अभिनेता और नाटककार, तुम सारे लोग, जो हाथ या दिमाग से काम करते हो, आगे आओ और अपने आपको आजादी और सामाजिक न्याय का एक नया समाज बनाने के लिए खुद को झोंक दो।'' इसमें कहा गया की भारतीय जन नाट्य संघ के बैनर तले होने वाला ये सम्मेलन रंगमंच और परम्परागत कलाओं को फिर से जिन्दा कर लोगों के सामने लाने और संगठन बनाने के लिए, पूरे भारत में जन नाट्य आन्दोलन शुरू करने की जरूरत को स्वीकार करता है।

इस तरह प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के सात साल बाद समूचें कलाओं को अंगीकार कर अपने आपको सीधे जनता से जोड़ देने वाला पहला सांस्कृतिक संगठन के रूप में इप्टा की बुनियाद देश के सबसे संक्रामक काल में पड़ी। रंग दस्तावेज के लेखक महेश आनन्द के अनुसार–

''इप्टा के रूप में ऐसा संगठन बना जिसने पूरे हिंदुस्तान में प्रदर्शनकारी कलाओं की परिवर्तनकारी शक्ति को पहचानने की कोशिश पहली बार की।कलाओं में भी आवाम को सजग करने की अद्‌भुत शक्ति है को हिंदुस्तान की तमाम भाषाओं में पहचाना गया।ललित कलाएं, काव्य, नाटक, गीत, पारम्परिक नाट्य रूप, इनके कर्ता,राजनेता और बुद्धिजीवियों को एक जगह इकट्ठा किया,जो दुबारा कभी सम्भव नही हुआ''

रूस्तम भरूचा 'रिहर्सल आफ रिवोल्युशन' में लिखते हैं "इप्टा पहला राष्ट्रीय संगठित आंदोलन था जिसमें भारतीय रंगकर्मियों ने पहली बार सहभागिता से फासीवाद और साम्राज्यवाद विरोध की ठोस कलात्मक अभिव्यक्ति की और समकालीन रंगमंच के सस्ते व्यावसायिक चमक दमक के विरूद्ध प्रतिक्रिया दी। इसने रंगमंच के प्रति उपलब्ध समझ को बदला और इसे अभिजात्य वर्ग के सीमित हिस्से से निकालकर बड़े तबके तक पहुँचा दिया"।

परिचय नामक जर्नल के सदस्य और बाद में ख्यातिलब्ध निर्देशक रहे शम्भू मित्र इप्टा के दिनों को याद करते हुए बताते हैं, ''उस वक्त हम सब हमेशा यह महसूस करते थे की इस दौर में व्यक्ति के दैनिक संघर्ष को एक समूचे समाज के माध्यम से कहानी में बेहद ही यथार्थपरक अभिव्यक्ति के साथ लागू करने की जरूरत है''।[36]

इप्टा के बारे में अभिनेता एके हंगल लिखते हैं,''दुनिया को देखने का मेरा नजरिया कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ने के बाद बदल गया। इस नजरिये के कारण मेरा रंगमंच भी प्रभावित हुआ। मैं इस बात से सहमत होता गया की रंगमंच का प्रयोग लोगों के अंदर एक राजनैतिक समझ और आध्यात्मिक विकास के लिए किया जाना चाहिए। यह काम उस समय एक मात्र इप्टा नामक संगठन कर रही थी। यह 1947 का समय था और मैं अहमदाबाद में हो रहे इप्टा के अधिवेशन के लिए बोरिया–बिस्तर बाँध निकल गया। जिसके साथ काम करते हुए मुझे बलबीर साहनी, ख्वाजा अब्बास, दिना पाठक जैसे दोस्त मिलें''।[37]

---

[36] GHOSH, P। ((2012। Rise and Fall of Calcutta's Group Theatre: The End of a Political Dream। Economic and Political Weekly, (10)47, ।42-36Retrieved January 9, 2021, from http://www।jstor।org/stable/41419931

[37] C sagnik, IPTA and Indian cinema during the 1940s and the early 1950s

इस तरह इप्टा ने उस दौर की सबसे प्रभावी जनमाध्यम के रूप में अपनी राष्ट्रीय पहचान बनाने के लिए अपना सबकुछ झोंक दिया। अपने आप को देशज बनाने के लिए इप्टा ने पारंपरिक रूपों तमाशा, जात्रा, बर्रकथा को अपनी नाट्य भाषा में शामिल किया। किसानों, मजदूरों के संघर्षों, हिंदू मुस्लिम एकता के प्रति जागरूकता को अपने विषय में शामिल किया। उसके पास आजादी के बाद के भारत के लिए प्रश्न और संदेह थे जिसे वह आम जनता के बीच व्यक्त करने में लगा रहा।

इप्टा का गठन और कामरेड पीसी जोशी–

इप्टा के गठन से पूर्व अगर देखा जाए तो कांग्रेस और उसकी विचारधारा ही सबसे ज्यादा मुखरता से भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में सम्मिलित थी। तमाम अंग्रेजी हुकुमत के साथ वार्ताओं में इनके नेताओं को तरजीह दी जाती थी। गाँधी–नेहरुवादी कांग्रेस की प्रासंगिकता आजादी के बाद तक बनी रही। फिर भी 19 वी सदी के दुसरे दशक में दो महत्वपूर्ण संगठनों की स्थापना हुई जो राजनैतिक और सांस्कृतिक रूप से अपनी सक्रियता के लिए जाने जाते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

कम्युनिष्ट पार्टी आफ इण्डिया रूस की बोल्शेविक क्रांति की ऊपज थी। मजदूरों–किसानों की एकता पर आधारित इस संगठन ने औपनिवेशिक सरकार की खिलाफत के साथ भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों के खिलाफ आवाज मुखर करने के लिए प्रतिबद्धता के साथ खड़ी हुई। पार्टी के पहले महासचिव पूरन चन्द्र जोशी का कार्यकाल इसके सांस्कृतिक रुझानों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुई। पहले प्रगतिशील लेखक संगठन (1936) की संकल्पना और फिर बाद में इप्टा का गठन पीसी जोशी के कारण ही सम्भव हो सका।

चित्रः पीसी जोशी (साभारः जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय)

पीसी जोशी को हटाकर इप्टा और प्रगतिशील लेखक संगठन को देखना एक बड़ी भूल होगी। पीसी जोशी की दूरदर्शिता का ही परिणाम था की देश की आजादी से पहले साहित्यिक–गैर साहित्यिक संगठनों ने भारतीय राजनैतिक चिन्तन के साथ इस देश के सांस्कृतिक विमर्श पर भी अपना महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा। पीसी जोशी का व्यक्तित्व काफी रोमांचक और सरल था। प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव प्रो. अली जावेद बताते हैं की वे बहुत दूरदर्शी आदमी थे। उन्होंने देश भर के योग्य कलाकारों को पहचाना और इप्टा मूवमेंट से जोड़ने के लिए प्रेरित किया। दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी के आचार्य रहे वरिष्ठ लेखक विश्वनाथ त्रिपाठी का मानना है कि, भारत की रचनात्मक अभिव्यक्ति पर गाँधी के बाद दुसरे किसी और राजनेता ने अपना प्रभाव स्थापित किया तो वे निस्संदेह कामरेड पीसी जोशी थे।

पीसी जोशी स्वतन्त्रता संघर्ष में जेल के अंदर–बाहर होते रहे। अपने व्यक्तित्व के कारण उनकी मिथकीय उपस्थिति का ही यह परिणाम था की एक सांस्कृतिक संगठन के रूप में

इप्टा ने कम समय में शोहरत का वह मुकाम हासिल किया जो किसी भी कालखंड में किसी संगठन के लिए दुर्लभ होता है। भीष्म सहनी ने अपने संस्मरण 'आज के अतीत में' पीसी जोशी से पहली मुलाकात का जिक्र क्या है। साहनी लिखते हैं, 'वे लापरवाह तरीके से कपड़े पहने हुए, पैरों में पुरानी चप्पल डाले और मुंह से तम्बाकू खा रहे थे। मुझे ताज्जुब हुआ की जिस व्यक्ति का गुणगान सभी करते हैं बेशक वह व्यक्ति तो यह आदमी कत्तई नही हो सकता। लेकिन जब उन्होंने अपना हाथ मेरे कंधे पर रखा तो उनकी आँखों की स्नेहपूर्ण चमक और चमकीली मुस्कान ने मेरे शक को दूर कर दिया।[38]

संगठन बनाने की क्षमता से लबरेज पीसी जोशी एक किवदंती के रूप में इप्टा और सीपीआई के साथ संलग्न रहे। एमके रैना लिखते हैं की, उस दौर में नाटक, संगीत, चित्रकला, लेखन, फिल्म से जुड़ा शायद ही कोई वरिष्ठ संस्कृतिकर्मी होगा जो इप्टा से नही जुड़ा था। इस तरह पीसी जोशी की उपस्थिति के कारण उनके संयोजन में पृथ्वीराज कपूर, बलराज और दमयन्ती सहनी, चेतन और उमा आनन्द, हबीब तनवीर, शम्भु मित्र, जोहरा सहगल, दीना पाठक जैसे अभिनेता, कृष्ण चन्दर, सज्जाद जहीर, अली सरदार जाफरी, राशिद जहां, इस्मत चुगताई, ख्वाजा अहमद अब्बास, जैसे लेखक, शांति वर्धन, गुल बर्धन, नरेंद्र शर्मा, सचिन शंकर, नागेश जैसे नर्तक, रविशंकर, सलिल चौधरी जैसे संगीतकार, फैज, मखदूम, साहिर, शैलेन्द्र, प्रेम धवन जैसे गीतकार, विनय राय, अन्ना भाऊसाठे, अमर शेख, दशरथ लाल जैसे लोक गायक और रामकिंकर जैसे चित्रकार इप्टा के साथ सहभाग कर रहे थे।

वाकई में पीसी जोशी ने इप्टा को लोगों का रंगमंच मुहैया करने के लिए अपना सर्वस्व दिया। वे कम्यून में तड़के जगकर सभी कलाकारों को दी जाने वाली जिम्मेदारी एक पर्ची पर लिख उनके सिरहाने छोड़ देते। कम्यून और कलाकरों को लेकर उनकी सहृदयता का परिणाम यह निकला की इप्टा ने सिर्फ रंगमंच के माध्यम से ही नही बल्कि सिनेमा के माध्यम से भी जनता की आवाज उठाने में सफलता अर्जित की।

---

[38] Sahni, K। (2011)। Two Brothers, Bhisham and Balraj Sahni: Some Experiences in the IPTA। Social Scientist, 39(11/12), 48-62। Retrieved January 3, 2021, from http://www।jstor।org/stable/23076332

प्रगतिशील लेखक संगठन की स्थापना–

इप्टा के गठन से पहले प्रलेस की स्थापना होती है। यह स्थापना इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि पहली बार भारतीय लेखकों को एक मंच पे लाने का प्रयास किया। इसकी भूमिका लिखी गयी यूरोप में। यूरोप 1930 से 1935 के बीच परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद सारी दुनिया आर्थिक मंदी का दंश झेल रही थी। जर्मनी, इटली, हिटलर और मुसोलिनी की चपेट में थे। फ्रांस की पूंजीपति सरकार के जन विरोधी कामों से पूरी दुनिया पर साम्राज्यवाद और फासिज्म का खतरा बढ़ रहा था।

इसी बीच साल 1933 में प्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यकार हेनरी बारबूस की कोशिशों से फ्रांस में लेखक, कलाकारों का फासिज्म के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा 'वर्ल्ड कान्फ्रेंस ऑफ राइटर्स फार दि डिफेंस ऑफ कल्चर' बना। जो बाद में आगे चलकर पॉपुलर फ्रंट (जन मोर्चा) के रूप में तब्दील हो गया।[39]

इस संयुक्त मोर्चे में मैक्सिम गोर्की, रोम्या रोलां, आंद्रे मालरो, टॉमस मान, वाल्डो फ्रेंक, मारसल, आंद्रे जीद, आरांगो जैसे विश्वविख्यात साहित्यकार शामिल थे। लेखक, कलाकारों के इस मोर्चे को जनता की बड़ी तादाद का समर्थन था।

विश्व परिदृश्य की इन सब घटनाओं ने लंदन में पढ़ रहे भारतीयों सज्जाद जहीर, डॉ0 मुल्कराज आनंद, प्रमोद सेन गुप्त, डॉ0 मुहम्मद दीन 'तासीर', हीरेन मुखर्जी और डॉ0 ज्योति घोष को अंदर तक प्रभावित किया। इसका सबब लंदन में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना थी। प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणा–पत्र का मसौदा वहीं तैयार हुआ।[40]

सज्जाद जहीर लन्दन से भारत आए। यहाँ उन्होंने उसी पापुलर फ्रंट को केंद्र में रख प्रलेस की स्थापना के लिए लेखकों से मिलने के लिए दौरे शुरू किये। प्रेमचन्द्र को अध्यक्षता के लिए

---

[39] https://janchowk।com/art-culture-society/foundation-day-need-for-movement-like-a-more-progressive-writers-union/

[40] https://janchowk।com/art-culture-society/foundation-day-need-for-movement-like-a-more-progressive-writers-union/

मनाया। इस तरह प्रलेस का पहला अधिवेशन बेहद लोकप्रिय और कामयाब रहा। अधिवेशन में फिराक, हसरत जैसे उर्दू के मूर्धन्य कलमकारों ने अपने आलेख पढ़े। प्रलेस के अधिवेशन में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़े राजनेताओं ने भी शिरकत की। प्रख्यात समाजवादी जयप्रकाश नारायण उनमे से एक थे।

अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में प्रेमचन्द्र ने कहा, ''हमारी कसौटी पर वह साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो, जो हम में गति, संघर्ष और बैचेनी पैदा करे। सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है''

इस तरह प्रलेस की स्थापना के पीछे जो मूल्य निहित थे उनमे वैश्विक बन्धुत्व, किसी भी तरह के शोषण से मुक्ति, धर्म निरपेक्षता को तवज्जो दी गई थी। प्रलेस की शुरुआत का आलम यह था की इसे उस समय भारतीय भाषाओं के सभी कलमकारों ने खुले ह्रदय से स्वागत किया। वे प्रलेस से जुड़े और इसमें निहित मूल्यों को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति का आधार बनाया। सज्जाद जहीर प्रलेस के लम्बे समय तक महासचिव रहे। उनकी मौजूदगी के कारण उर्दू अविभाजित भारत में प्रलेस को नये दौर का रहनुमा समझा गया जिसकी आधार भूमि पर इप्टा ने भी अपनी इमारत बुलंद की।

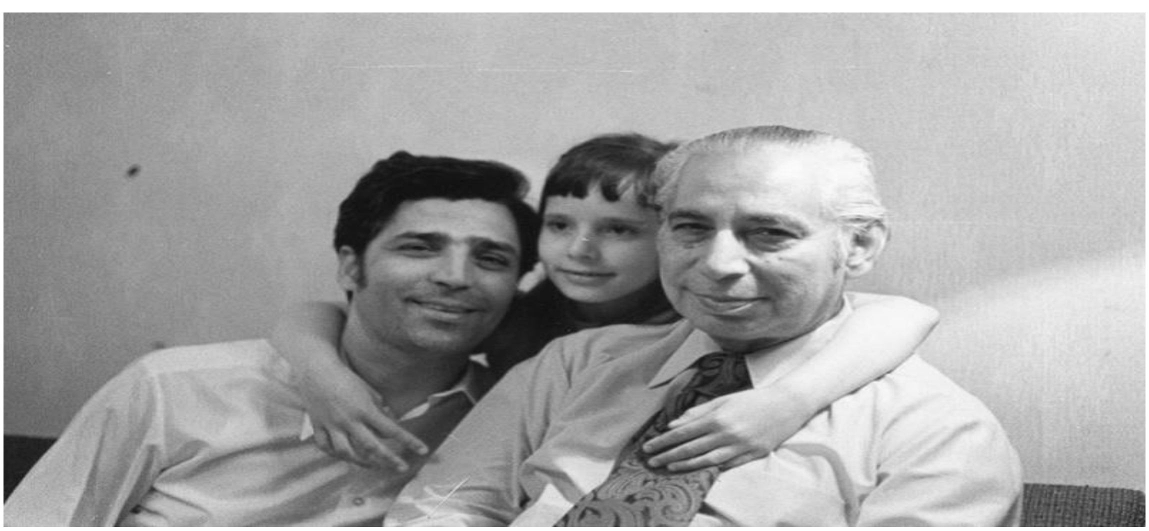

तस्वीरः सज्जाद जहीर (स्त्रोतः डेक्कन क्वेस्ट)

इस तरह इप्टा की संरचनात्मकता को समझने के लिए प्रलेस और उसके वैचारिक और राजनैतिक रुझानों को समझना जरूरी प्रतीत होता है। प्रलेस से जुड़े लेखकों की कसीर तादाद इप्टा में सहयोगी लेखकों की भूमिका में रहे। सज्जाद जहीर भी उनमे से एक थे जिन्होंने इप्टा के बंगाल स्क्वायड से निर्मित बंगाल की अकाल पर बने नाटक में अपनी रचनात्मकता का प्रयोग किया था।

बंगाल का अकाल और इप्टा का उदय –

साम्राज्यवादी ब्रिटिश हुकुमत के कारण उत्पन्न बंगाल का अकाल जिसमें लाखों लोग हताहत हुए। उस पर आधारित नाटकों ने इप्टा की बुनियाद मजबूत की। महात्मा गाँधी द्वरा छेड़े गये सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रभाव में आकर विद्यार्थियों ने कॉलेज का दाखिला रद्द करवा दिया। बंगाल के महान नाटककार बिजान भट्टाचार्य उनमें से एक थे। जो कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया के सम्पर्क में आए और 1942 में उसके पूर्णकालिक सदस्य हो गये। इप्टा के गठन के बाद वे इप्टा से जुड़े और कई नाटकों की रचना की। नाबन्ना (द न्यू हार्वेस्ट,1944) उनमें से एक था।[41] वे इप्टा से लम्बे समय तक सम्बद्ध रहे तथा अपने सहयोगी शम्भु मित्र के साथ न्यू हार्वेस्ट नाटक के मंचन में मुख्य भूमिका भी निभाई। इप्टा के लिए नाबन्ना के आलावा उन्होंने जबानबंदी (1943), अवरोध (1946), मोरा चाँद जैसे नाटकों की रचना की।[42]

वहीं कामरेड पीसी जोशी के प्रोत्साहन स्वरूप नृत्य नाटिकाओं के मंचन ने जोर पकड़ा। शांति बर्धन के निर्देशन में भूखा है बंगाल (1944) ने जनता के बीच लोकप्रियता हासिल की। इप्टा इन नाटकों का प्रयोग अकाल पीड़ितों के लिए सहयोग राशि इकट्ठा करने के लिए करता था।[43] इस नाटक के सफलता के बाद बंगाल स्क्वायड को एक सेंट्रल स्क्वायड के साथ

---

[41] Sen, A। (2015)। Bijon Bhattacharya and His Theatre। *Economic and Political Weekly, 50*(52), 5-5। Retrieved January 9, 2021, from http://www।jstor।org/stable/44003010

[42] Sen, A। (2015)। Bijon Bhattacharya and His Theatre। *Economic and Political Weekly, 50*(52), 5-5। Retrieved January 9, 2021, from http://www।jstor।org/stable/44003010

[43] Purkayastha, P। (2015)। Women in Revolutionary Theatre: IPTA, Labor, and Performance। Asian Theatre Journal, 32(2), 518-535। Retrieved January 6, 2021, from http://www।jstor।org/stable/24737043

जोड़ दिया गया जिसके साथ देश भर के ख्यातिप्राप्त लेखक–अभिनेता निर्देशक जुड़ते चले गये।

बंगाल के अकाल के बाद इप्टा ने अपने नाटकों का प्रयोग चतुराई से करते हुए उसके कई भाषाई डिविजन तैयार किये। साथ ही शांति वर्धन और उदय शंकर जैसे कोरियोग्राफरों ने नृत्य और लोक नृत्य को आधुनिक रंगमंच का हिस्सा बनाना शुरू कर दिया। स्पीरिट आफ इण्डिया और इण्डिया इम्मोरत्ल ऐसे ही नाटक थे। इन नाटकों ने नृत्य और रंगमंच के बीच की लकीर को धुंधला कर दिया। जिसके कारण इप्टा के साथ लोक कलाकारों के जुड़ाव का जत्था देश के विभिन्न हिस्सों से आकर निर्लिप्त हो गया।[44]

इस दौर में इप्टा ने बंगाल के अकाल को केंद्र में रख कई नाटकों को देश के सुदूर इलाकों में प्रस्तुत किया। इप्टा से अपने प्रथम परिचय को याद करते हुए भीष्म साहनी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, ''उन दिनों की बात है जब कलकत्ता से रावलपिंडी आई नाटक मंडली शहर के कैंटोनमेंट हाल में अपनी प्रस्तुती दे रही थी। इससे पहले वह अपनी प्रस्तुती को अनेक शहरों में कर चुकी थी। मैं दर्शकों के बीच एक अभूतपूर्व अनुभव से गुजर रहा था। बंगाल के अकाल की पृष्ठभूमि पर इप्टा के नाटक ने समूचे सभागार को अवाक कर रखा था। दर्शक बंगाल की त्रासदी से इस तरह जुड़ गये थे की जब प्रस्तुती खत्म हुई मेरे बगल में बैठी महिला ने अपने कर्णफूल कलाकारों की झोली में बंगाल के सहयोग के लिए डाल दिया।''[45] इस तरह इप्टा ने बंगाल की आकाल की त्रासदी को मानव निर्मित त्रासदी बता औपनिवेशिक सरकार की किरकिरी पूरे भारत में की। इप्टा रंगमच की बनी बनाई संरचनाओं को तोड़ उसे एक अभिजात्य ढाँचे से बाहर निकालने में पूरी तरह तल्लीन था। जिसे बाद में हबीब तनवीर और यथार्थवादी नए रंगमच के निर्देशकों ने बखूबी स्वीकार किया है। भारतीय रंगमंच पर इप्टा के यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रभाव आज भी परिलक्षित होता है।

---

[44] Purkayastha, P। (2015)। Women in Revolutionary Theatre: IPTA, Labor, and Performance। Asian Theatre Journal, 32(2), 518-535। Retrieved January 6, 2021, from http://www।jstor।org/stable/24737043

[45] Sahni, K। (2011)। Two Brothers, Bhisham and Balraj Sahni: Some Experiences in the IPTA। Social Scientist, 39(11/12), 48-62। Retrieved January 3, 2021, from http://www।jstor।org/stable/23076332

इप्टा की कार्यशैली–

इप्टा के गठन का मुख्य मकसद था हाशिए पर जीवन जीने के लिए मजबूर लोगों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनना। इस तरह इप्टा ने साम्प्रदायिकता, मजदूर और किसानों के साथ भारतीय समाज में रूढ़ हो चुकी समस्याओं पर टिप्पणी करने के लिए रंगमंच का माध्यम बनाया। इप्टा का आन्दोलन सामजिक प्रतिबद्धता को आत्मसात करने का आन्दोलन था। जो वास्तविकता को दिखाने के अलावा उसे जीने में भी यकीन रखता था। उसके कलाकार आम जनता के बीच की प्रतिध्वनियां थे। जो उसी सच्चाई को जीते थे जिसका वे लोगों के बीच मंचन कर रहे होते। अपनी क्षेत्रीय शाखाओं के कारण इप्टा ने उसी आमजन के बीच व्याप्त कलाओं,लोक नृत्यों को अपनाया जिसमे जनता की अनूभूतियाँ सदियों से व्यक्त हो रही थी। उसके कलाकार ट्रेड यूनियन, मजदूरी करने वाले लोगों का जत्था था। जिसके कारण इप्टा ने आम जनता से संवाद स्थापित किया।[46]

अपर्णा धर वाडेकर के अनुसार, ''इप्टा धूमिल और व्यापारिक हो चुके देशज कलाओं को लोगों के बीच लाने में प्रयत्नशील था जिसे अभिजात्य वर्ग और पारसी थिएटर ने दूषित कर भोंड़े मनोरंजन का माध्यम बना लिया था। इप्टा जन नाट्य को एक क्रांतिकारी स्वरूप मानता था जो ग्रामीण और शहरी समाज के बीच सेतु निर्माण के लिए आवश्यक था''। इस तरह इप्टा ने समाज में हाशिये पर पड़े लोगों की अभिव्यक्ति के लिए सिर्फ उनकी त्रासदियों को ही अभिव्यक्ति का माध्यम नही बनाया बल्कि उसे प्रस्तुत करने वाले कलाकारों को भी उन्हीं के बीच से ले यथार्थवाद के आदर्श को देश के सुदूर हिस्सों में प्रस्तुत किया।

साम्यवादी धड़े की आधारभूत विमर्शों को इप्टा ने अपनी प्रस्तुतियों में प्रमुखता से जगह दी। इप्टा के जन गीतों के माध्यम से इसे समझा जा सकता है। मजदूरों–किसानो–दलितों और स्त्रियों के साथ हो रहे भेदभाव के खिलाफ इप्टा ने लम्बा अभियान छेड़ा जो औपनिवेशिक शासन के समानांतर उनकी एक दूसरी जंग थी। यही कारण रहा की उस दौर में इप्टा से

[46] Sahni, K। (2011)। Two Brothers, Bhisham and Balraj Sahni: Some Experiences in the IPTA। Social Scientist, 39(11/12), 48-62। Retrieved January 3, 2021, from http://www।jstor।org/stable/23076332

जुड़े दो महत्वपूर्ण निर्देशकों ने अपनी फिल्मो से देश–विदेश में तहलका मचा दिया। जहाँ ख्वाजा अहमद अब्बास ने विशुद्ध समाजवादी क्रांतिकारी जमीन पर आधारित 'धरती के लाल' का निर्देशन किया तो वही चेतन आनंद ने 'नीचा नगर' बन यूरोप में भारत के सिनेमा को स्थापित किया। दोनों निर्देशक इप्टा के सेंट्रल स्क्वायड से सम्बद्ध रहे। इस तरह इप्टा के कलाकारों के माध्यम से भारतीय भूगोल में बिलकुल कौतूहल के रूप में लिए जा रहे सिनेमा को संजीदा होने का मौका मिला। इसकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

इप्टा के लिए देश के साथ ही नागरिक को प्राथमिकता दिया जाना वैश्विक समाजवादी सिद्धांतों पर आधारित रहा। अपने कार्यकलापों में इसे इप्टा ने अंगीकार भी किया। विभाजन के समय सम्प्रदायिकता के बीच धू–धूं कर जल रहे देश को सही दिशा दिखने के लिए भी इप्टा ने अपने कलाकारों के माध्यम से नुक्कड़ नाटक किए। विभाजन के समय इप्टा का नारा था– "every hindu save his muslim neuighbour and every muslim save his hindu neighbor"। अहमद अब्बास का नाटक 'मैं कौन हूँ' इस त्रासद समय का सबसे चर्चित नाटक था।[47] जो लोगों के बीच पारस्परिक सौहार्द और सहिष्णुता को बढ़ावा देकर एक मानवीय सम्बन्ध की वकालत करता था। ऐसे नाटक सिर्फ बम्बई में ही नही खेले गये बल्कि उसके क्षेत्रीय शाखाओ के द्वारा देश के सभी प्रभावित जगहों पर इनका मंचन हुआ।

[47] Sahni, K। (2011)। Two Brothers, Bhisham and Balraj Sahni: Some Experiences in the IPTA। Social Scientist, 39(11/12), 48-62। Retrieved January 3, 2021, from http://www।jstor।org/stable/23076332

अहमदाबाद में इप्टा अधिवेशन का दृश्य (साभारः इप्टा)

विभाजन के दौरान इप्टा के कलाकारों ने अपनी सभी क्षेत्रीय इकाइयों के माध्यम से साम्प्रदायिकता विरोधी स्वरों की वकालत की। इसके लिए उसके पास 5 सालों का गहन अनुभव और असाधारण श्रम था। इसके साथ ही उसने परम्परागत कलाओं के माध्यम से एक ऐसा फार्म विकसित कर लिया था जो आसानी से जनता के साथ संवाद करने की हैसियत रखता था। अपने सक्रियता काल (1942) जिसे इप्टा के स्वर्ण काल के नाम से जाना जाता है। इप्टा ने ग्रामीण अनुभवों उसकी कहानियों को लोक शैली में प्रस्तुत कर रंगमंच के दायरे को विस्तृत करने का प्रयास किया। उसके प्रयासों का ही परिणाम था की आधुनिक भारतीय भाषाई रंगमंच ने अपना एक अलग स्वर बाद के वर्षों में हासिल किया। रंगमंच के माध्यम से राजनैतिक परिदृश्य को देखना उसका आलोचनात्मक विवेचन करना बाद में इप्टा के प्रयासों के कारण ही सम्भव हो सका। रंगमंच के विमर्श के इतर हम भारतीय सिनेमा पर भी इप्टा के प्रभावों को देख सकते हैं।

इप्टा और उसका सेंट्रल स्क्वायड

जहाँ इप्टा से देशज कलाकारों की एक फौज अपने निजी जीवन की अनुभूतियों के साथ जुड़कर अपने रोजमर्रा के जीवन में रहते हुए राजनैतिक प्रतिबद्धता के वशीभूत कार्यरत था। तो वही एक ऐसा भी वर्ग था जो सिनेमा में अपने रुझान के कारण मुम्बई आया था और उसके कला के साथ जुड़े रुझानों ने उन्हें इप्टा के साथ जोड़ रखा था। वे न तो पार्टी के नियमित सदस्य थे न ही पार्टी और उसके विचारों से पूरी तरह सहमत। इसमें कुछ ऐसे भी लोग थे जो पहले कम्युनिस्ट पार्टी के साथ जुड़कर एक बदलाव की आहट को सुन रहे थे लेकिन बाद में उन्होंने सिनेमा का रुख किया। देव आनन्द के बड़े भाई और निर्माता निर्देशक चेतन आनन्द, पृथ्वी राज कपूर, विमल राय संगीतकार रविशंकर आदि लोग उनमे से थे। ये लोग अपने कला पक्ष के कारण इप्टा के सेंट्रल स्क्वायड से जुड़े थे।

तस्वीरःचेतन आनंद(साभारःआईएमबीडी)

सेंट्रल स्क्वायड का बम्बई में होना कलाकारों के निजी रुझानों के कारण एक माकूल जगह थी। साथ ही इप्टा में कार्य करने के दौरान हासिल अनुभव इन्हें अपने सिनेमाई करियर में सहायक भी सिद्ध हुई। चुकी सिनेमा एक खर्चीली विधा थी साथ ही इसमें भारी–भरकम मानवीय संसाधनों के निवेश की जरूरत थी। ऐसे में कलाकारों के जत्थे के साथ काम करना उनके लिए निर्णायक साबित हुआ। इप्टा भी सिनेमा के महत्व को नजरंदाज नही करता था। ख्वाजा अहमद अब्बास के निर्देशन में बनी धरती के लाल से उसने अपने आपको स्पष्ट भी कर दिया। धरती के लाल कम्युनिस्ट पार्टी के दिशा–निर्देशों उसकी सांगठनिक नियमावलियों को क्रमशः पालन करते हुए बनी थी। साथ ही फिल्म की पृष्ठभूमि भी कृषि और सूदखोरों के शोषण पर आधारित थी। ऐसे में अन्य निर्देशकों को भी अपनी प्रतिभा को सिनेमा के माध्यम से दुनिया को दिखाने का अवसर मिला। इप्टा में रहते हुए चेतन आनन्द ने नीचा नगर का निर्माण किया जिसे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति और पुरस्कार मिले।

बलराज साहनी

इसके आलावा सेंट्रल स्क्वायड के पास इप्टा को दिशा देने का काम भी था। बलबीर साहनी ने विदेश से वापसी के बाद चेतन आनन्द के कहने पर ही मुंबई का रुख किया था। जब वह मुंबई पहुंचे तब तक इप्टा के साथ कलाकारों का एक बड़ा जमावड़ा हो चुका था। जो देश भर में हो रही सांस्कृतिक हलचलों को निर्देशित और प्रायोजित करने का प्रयास कर रहे थे। जिसमे से सबसे महत्वपूर्ण कार्य था नाटकों को किस शैली में और कहाँ पर मंचित किया जाए। इसमें सेंट्रल स्क्वायड के मतों में विभेद रहता था। जो कला और उसके शुद्धतावाद पर आधारित थे। इन बहसों में सबसे महत्वपूर्ण बहस थी पार्टी की कार्यशैली और कलाकारों का उसके प्रति रवैया। चुकी सेंट्रल स्क्वायड में प्रतिबद्ध कलाकरों के साथ कम्युनिस्ट पार्टी के कामरेड भी थे। ऐसे में कला और उसके राजनीतिक प्रयोगों पर मतभेद बना रहता था। सेंट्रल स्क्वायड देश के अन्य इकाइयों के लिए एक उदाहरण भी था इसलिए पार्टी उसे राजनैतिक रूप से कड़े अनुशासन में रखने का प्रयास करती थी।

उदय शंकर जैसे कलाकारों ने भारतीय रंगमंच पर नृत्य और लोकनृत्य शैली को प्रतिष्ठित किया उसे संवाद का माध्यम बनाया। लेकिन इस सुगम्यता के बीच भी उनका मत था इसके साथ राजनैतिक छेड़छाड़ न हो। जबकि पार्टी का मानना था की लोक संवाद की ही एक मात्र शैली बुर्जुआ कब्जे से बाहर है। लोक माध्यम पर या तो सरकारी कब्जा है अथवा विशेष वर्ग उसको अपने हिसाब से प्रयोग में ला रहा। इसलिए लोक के बीच संवाद की शैली का राजनीतिकरण होना चाहिए।[48] इसके साथ ही पार्टी के काडर किसी भी आपातकालीन प्रस्तुती के लिए सिमित समय में तैयार हो जाते जबकि उसके ख्यातिलब्ध कलाकारों को इसके लिए लम्बे वक्त की जरूरत पड़ती। इस तरह इप्टा का सेंट्रल स्क्वायड की कार्यशैली लोकतान्त्रिक और विमर्श पर आधारित थी जो आजादी के बाद भारतीय राजनीति का आधार बनने वाली थी अथवा जिसके लिए समूचा देश संघर्षरत था।

[48] C sagnik, IPTA and Indian cinema during the 1940s and the early 1950s

इप्टा का विघटन

विचारधारात्मक लड़ाई पार्टी में काफी शुरू से थी। जो रणदिवे के जनरल सेक्रेटरी बनने के बाद पूरी तरह से उजागर हो गई। 1948 में स्वतंत्र भारत सरकार की तरफ से पार्टी के रेडिकल समाजवादी धड़े को प्रतिबंधित कर दिया गया। तेलंगाना में सेक्रेटेरियन धड़े के हार के बाद सीपीआई ने प्रगतिशील लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ जाना पसंद किया। इसके साथ ही इप्टा के विघटन की पटकथा लिखी जाने लगी जो 1953 में जाकर पूरी हो गई। इप्टा का पार्टी के साथ भले ही पूर्ण रूप से कभी सम्बद्ध न रहा हो फिर भी उसकी राजनैतिक और आधारभूमि कम्युनिस्ट पार्टी ही थी। पार्टी के कोष से इप्टा के संचालन का व्यय वहन किया जाता था। इसके अलावा इप्टा की कार्यशैली पर भी पार्टी महासचिव का नियन्त्रण था। जो पीसी जोशी के कार्यकाल के बाद इप्टा के कलाकारों के बीच असंतोष का एक कारण भी बना।

स्वतंत्र भारत में नेहरु के निर्देशन ने कला के प्रति अपना रुझान ललित और साहित्य अकादमियों के निर्माण और उनके द्वारा दिए जाने वाले अनुदानों से स्पष्ट कर दिया। तो वही गुलाम भारत की तुलना में फिल्मों को बनाने के लाइसेंस और वित्त का नियोजन आसानी से होने लगा। ऐसे में बहुत सारे इप्टा के कलाकार इन सरकारी संस्थाओं के साथ हो लिए अथवा अनुदानों पर आश्रित होने लगे । इन परिस्थितियों से जूझते हुए इप्टा ने अपनी उपस्थिति प्रथम आम चुनावों के बाद भी देश के सुदूरवर्ती इलाकों में कायम रखी। वहीं कैफी आजमी और शैलेन्द्र, बलबीर साहनी जैसे लोग इप्टा के साथ हमेशा बने रहे। इप्टा का विघटन राजनैतिक कारणों और नेहरूवादी नीतियों के परिणामस्वरूप हुआ। आजाद भारत में इप्टा के कलाकारों को लम्बें समय तक भूमिगत होना पड़ा जिसमे बलबीर साहनी और आजमी जैसे लोग सम्मिलित थे। लेकिन राजनीतिक रूपसे पार्टी की सक्रियता बनी रही। इप्टा जिन मूल्यों के साथ जिस प्रतिगामी चेतना के फलस्वरूप अपनी सक्रियता बनाए था वह एक हद तक इसके विघटन तक पूरी भी हो चुकी थी।

निष्कर्ष

प्रलेस की स्थापना देश भर के साहित्यकारों के अंदर औपनिवेशिक सरकार के उन्मूलन के साथ सामाजिक रूप से अकड़ी भारतीयता को झकझोर देने के लिए की गई। जो यथार्थ की अभिव्यक्ति पर आधारित थी और सच के साथ खड़े होने का आह्वाहन कर रही थी। इसने देश के सभी प्रबुद्ध साहित्यकारों को एक मंच पर लाकर साहित्य को समाज से जोड़ने पर बल दिया। समाजवादी और शोषण से दूर समाज के लिए आवश्यक सुधारों को रेंखाकित करते हुए लेखकों के द्वारा एक नये किस्म के लेखन को आंदोलित किया। जो तर्क और विज्ञानं पर आधारित थी और मनुष्यता की वकालत कर रही थी। प्रलेस की स्थापना की उर्जा यूरोप में रह रहे भारतीय साहित्यकारों की उपज थी। जिनपर रसियन साहित्य और रसियन क्रांति का प्रभाव था और यही एकमात्र कारण भी था की सज्जाद जहीर ने इसे भारत में मूर्त करने के लिए अपने आपको समर्पित कर दिया।

प्रलेस की स्थापना के सात साल बाद इप्टा की स्थापना मूल रूप से प्रलेस के मूल्यों को भारतीय रंगमंच के माध्यम से जनता के बीच ले जाने के लिए किया गया। जो सिर्फ साहित्य ही नही बल्कि संगीत,नृत्य और अभिनय पर आभिजात्य पकड़ को कमजोर करने में सहायक साबित हुई। इसके अलावा इप्टा ने देश की कलाओं को प्राणवान कर उन्हें नवीन बनाया जिसके साथ आम जनता ने संवाद भी स्थापित किया। इप्टा ने प्रलेस की भूमिका को आजाद भारत में सुदूरवर्ती इलाको तक प्रचारित किया। सम्प्रदायवाद और पूंजीवाद के खिलाफ मजदूरों और किसानों के माध्यम से प्रतिरोध को मजबूत करते हुए सत्ता की आलोचना की। जिसे बाद में सिनेमा का भी सहारा मिला। सिनेमा जो पेशेवर रूप से व्यापक पूंजी और मानवीय संसाधन की मांग करता है इसकी भरपाई अथवा पूर्ति भी इप्टा ने की। जिसे इप्टा के साथ जुड़े कलाकारों को बाद में भारतीय सिनेमा में किये गये कार्यों का मूल्यांकन कर हम अगले अध्याय में इसकी व्याख्या करेंगे।

अध्याय 4

धरती के लाल से प्यासा का विजय तक

पिछले अध्याय में हमनें इप्टा ,उसकी गतिविधियों और उसकी प्रतिबद्धताओं को निर्दिष्ट किया है। हमने देखा किस तरह इप्टा ने जन सरोकार से जुड़े रंगमच के माध्यम से बेहद कम समय में अपने आपको भारत में प्रतिरोध की इकाई के रूप में व्यक्त किया। साथ ही इप्टा अपनी राजनैतिक प्रतिबद्धता के बावजूद भी किस तरह भारतीय सिनेमा को अपने रुझान में लेता चला गया। किस तरह उसने लोक कलाओं के साथ पाश्चात्य कला को समायोजित कर अपने आपको सिनेमा के लिए तैयार किया और सिमित संसाधनों के बावजूद सिनेमा निर्माण को गम्भीरता से लेते हुए पहल करके फिल्में भी बनाई।

इप्टा जिस समाज का प्रतिनिधि और निर्णायक स्वर बनने के लिए प्रेरित था अथवा उसके सरोकार जिस विमर्श को आजाद भारत में स्थापित करना चाहते थे उसकी अवधि लगभग एक दशक तक ही रही। फिर भी इस दौर में सिनेमा ने जिस तरह नये लिबास अख्तियार किये उसके लिए इप्टा और उसके कलाकारों की भूमिका को हम इस अध्याय में देखेंगे।

मुख्य रूप से देखा जाए तो पीपल्स थिएटर के तले दो ही फिल्मों का निर्माण हुआ है। एक ख्वाजा अहमद अब्बास की 'धरती के लाल' और दूसरी चेतन आनन्द की 'नीचा नगर'। यह फिल्में तब आई जब कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया के महासचिव पीसी जोशी थे और भारत को आजादी नहीं मिली थी। अपने शिल्प में यह फिल्में बेहद यथार्थवादी हैं इसलिए यथार्थवाद से प्रभावित फिल्मों के उल्लेख में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। यथार्थवाद और उसकी परिभाषा का उल्लेख अगले अध्याय में किया जाएगा। यहाँ सिर्फ इस बात का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है की जब गुलाम भारत में फिल्में बनाई जा रही थी तब अमेरिकन फिल्मों की उपस्थिति भारतीय बाजार में ज्यादे थी। जिसके लिए अंग्रेजी हुकूमत ने एक आईसीसी (1927, indian cinematography committee) का गठन किया जिसका उद्देश्य था, भारत में सिनेमा का संवर्धन, प्रमाणन और अमेरिकन फिल्मों को हतोत्साहित कर अंग्रेजी फिल्मों को उत्साहित करने का प्रयास। इसके अलावा पारसी रंगमंच और पौराणिक काव्यात्मकता से भरपूर फिल्मों का निर्माण भी एक उल्लेखनीय घटक रहा जिसे इप्टा के गठन ने हस्तक्षेप करने का प्रयास किया। इप्टा के गठन से पहले के भारतीय सिनेमा का उल्लेख अध्याय दो में किया गया है।

आजादी का दौर अपने अंत में संक्रामक हो चुका था। औपनिवेशिक दासता से छुटकारा के बावजूद हाशिए के सवाल अनुत्तरित थे। राज्य का गठन और सम्भावित विकास के लक्ष्यों की तरफ नेहरूवादी कांग्रेस का झुकाव ज्यादे था। जिसे प्रगतिशील लेखक संगठन और फिर बाद में इप्टा द्वारा संज्ञान लेकर जरूरी हस्तक्षेप पर मुहर लगाई गई। कला और कविता की जमीन से भी राजनैतिक हस्तक्षेप हो सकता है इसे जानकर कलाकारों के जत्थों ने देश के लिए आवश्यक मूल्यों के लिए आन्दोलन छेड़ दिया। जिसके बाद समाज से भी प्रतिक्रिया हुई और लोकतंत्र में नागरिक की हैसियत उत्तरोत्तर मजबूत होती गई। जन आंदोलनों की इस जमीन को तैयार करने में इप्टा और उससे प्रभावित भारतीय सिनेमा के माध्यम से हम इस अध्याय में उसका मूल्यांकन करेंगे।

धरती के लाल– ख्वाजा अहमद अब्बास (1946) पटकथा लेखकः बिजोन भट्टाचार्य, अभिनेताः शम्भू मित्र, जोहरा सहगल, बलबीर साहनी, दिना पाठक, गीतकारःप्रेम धवन, संगीतःरविशंकर, नृत्य निर्देशनः शांति वर्धन

ख्वाजा अहमद अब्बास प्रगतिशील लेखक संगठन के साथ जुड़े और फिर इप्टा गठन के निर्णायक सदस्यों में एक रहे। इप्टा और प्रगतिशील लेखक संगठन से जुड़ाव के पहले वे अलीगढ़ से विधि की पढ़ाई कर अखबारों में नियमित रूप से लेखन करते रहे। उनका जन्म पानीपत में हुआ था। उनके परिवार ने 57 के गदर में कुर्बानियां दी थी। उनके दादा मिर्जा गालिब के छात्र और मशहूर शायर थे। ऐसे में ख्वाजा अहमद अब्बाश को मिली परवरिश ने उनकी फितरत को अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ ला देश के राजनैतिक परिवेश की तरफ बेहद कम उम्र में मोड़ दिया। अपनी शुरुआत उन्होंने बाम्बे क्रोनिकल में संवाददाता के रूप में की और फिर जल्द ही साम्यवादी धड़े के नजदीक आए और उसके महत्वपूर्ण घटक बन गये। बहुत सारे लोग उन्हें सात हिन्दुस्तानी में अमिताभ बच्चन को दिए गये मौके के लिए जानते हैं। लेकिन ख्वाजा अहमद अब्बाश के योगदान को देखा जाए तो उसकी शुरुआत उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक (नया संसार) से होते हुए नब्बें में आई फिल्म (हिना) तक जाती है। इस बीच उन्होंने खुद से भी फिल्में बनाई और राज कपूर जैसे निर्देशकों की कई लोकप्रिय फिल्मों

की पटकथा भी लिखी। बाम्बे टाकिज की फिल्म नया संसार की पटकथा भी ख्वाजा अहमद अब्बाश ने लिखी थी।

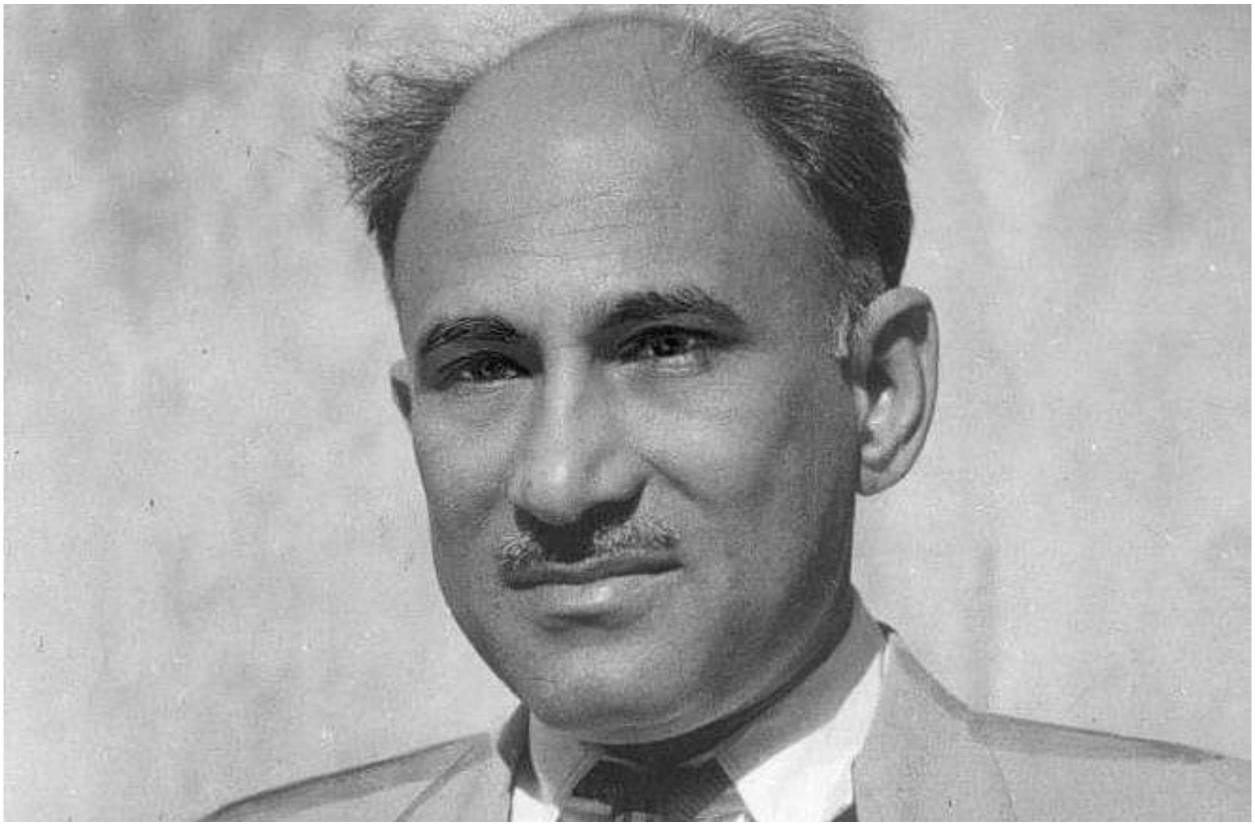

चित्रःख्वाजा अहमद अब्बाश, साभारः नवजीवन

ख्वाजा अहमद अब्बाश ने इप्टा से जुड़ने के बाद सेंट्रल स्क्वायड के लिए कई महत्वपूर्ण नाटकों का निर्देशन किया। बाद में उन्होंने रसीयन निर्देशक वासिली प्रोनिन के साथ मिलकर 'परदेशी' का निर्माण किया। हम यहाँ बात करने जा रहे इप्टा के बैनर तले उनकी प्रदर्शित और निर्देशित पहली फिल्म 'धरती के लाल' के बारे में।

बिजोन भट्टाचार्य के नाटक नाबन्ना और जबानबंदी पर आधारित कृष्ण चन्दर की कहानी अन्नदाता का उपयोग करते हुए धरती के लाल की पटकथा लिखी गई। यह ख्वाजा अहमद अब्बास की पहली फिल्म है। विश्वयुद्ध के समय बंगाल की त्रासदी (मानव निर्मित अकाल) को केंद्र में रख राष्ट्र निर्माण की आलोचना करती हुई इस फिल्म का स्वर तीखा था। शम्भू मित्र

जो बाद में जागते रहो जैसी फिल्मों के निर्माता रहे उन्होंने नाबन्ना नाटक को निर्देशित किया था। साथ ही इस फिल्म में भी वह महत्वपूर्ण भूमिका में रहे।

फिल्म की कहानी एक खेतिहर परिवार के शहर में विस्थापन पर आधारित थी। किस तरह एक धन्नासेठ के चंगुल में आकर पूरा देहात शहर में दर–दर ठोकरें खाने को मजबूर हो रहा। अंततः वहां की परिस्थितियों में गुजर बसर करते हुए एक परिश्रमी श्रमजीवी की पत्नी वेश्यावृत्ति को मजबूर हो रही। और फिर कैसे वे संगठन बनाकर वापस गांव कूंच करते है और शोषण–दमन के खिलाफ विजय हासिल करते हैं।

तस्वीरः धरती के लाल (साभारः ट्विटर)

यह कहानी एक फार्मूला की तरह लगती है। जो साम्यवादी सिद्धांत और उसके वर्ग संघर्ष को रेखांकित कर लोगों को साथ मे आकर संघर्ष करने के लिए प्रेरित कर रही। इसमें मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण को दिखाते हुए ख्वाजा अहमद अब्बास ने आने वाले समय में भारत के सामने विकराल होने वाली पूंजी की भयावहता को रेखांकित भी किया और उसकी आलोचना

भी। फिल्म समाजवादी यथार्थवाद को रविशंकर की धुनों और प्रेम धवन के गीतों के साथ प्रस्तुत करती है। देशज अभिव्यक्ति के लिए विचार का लोक में लौकिक हो जाने पर इप्टा केंद्रित था जो इस फिल्म में भी मजबूती से है।

आजादी के बाद शहरीकरण और विस्थापन के साथ पूंजी की आलोचना करती हुई फिल्मों की अधिकता रही। विमल राय की दो बीघा जमीन की चर्चा भी हम इसी क्रम में करेंगे। लेकिन यहां धरती के लाल के साथ जो समस्याएं थी वह दो बीघा जमीन के साथ नही रही थी। बिल्कुल ही नए कलाकारों के साथ एक प्रचिलित औपनिवेशिक ताकत की आलोचना के बजाए जब ख्वाजा अहमद अब्बास ने देशी पूंजीपतियों को अपने फिल्म का विलेन बनाया। उस समय यह मुश्किल से सिनेमा में सम्भव था। अंग्रजो की खिलाफत से हट यह उन लोगों की खिलाफत कर रहा था जो आजादी के संघर्ष के लिए गांधी और कांग्रेस दोनों को अनुदान देते थे। उनके लिए भवन और यात्रा–जलसे का प्रबंध करते थे। कांग्रेस में उनका अपना एक सिंडिकेट था। इसलिए भी धरती के लाल उस दौर की महत्वपूर्ण फिल्म बन जाती है।

धरती के लाल की सबसे खूबसूरत चीज है। शहर में आकर लोगों को संगठन बनाने और उससे मकसद तक पहुंचने की सीख। फिल्म ने शहर को त्रासदी और यातना के अलावा एक उम्मीद के साथ भी दिखाया है। जिसे हम जागते रहो और दो बीघा जमीन में देख सकते हैं। शहर में संगठन बना कर जीने के फायदे जान जब विस्थापित सदस्य गांव आकर जमींदार पर धावा बोलते हैं यह दृश्य उस समय सिनेमाई माध्यम का सबसे ज्वलंत संदेश था। ख्वाजा अहमद अब्बास ने अपनी इस योग्यता का परिचय नीचा नगर और डॉ कोटनिस की अमर कहानी (वी. शांताराम) में भी देते हैं।

इप्टा के कलाकारों से सजी इस फिल्म को बंगाल के ही पृष्ठभूमि में फिल्माया गया था। साथ ही उस दौर में भी इस फिल्म में काम करने वाले लोगों के लिए न्यूनतम और अधिकतम मानदेय में मामूली अंतर रखा गया था। यह पार्टी के सिद्धांत पर आधारित थी जिसे ख्वाजा अहमद अब्बाश ने आजीवन जारी रखा। अमिताभ बच्चन बताते हैं, ‘‘हम उन्हें मामू जान कहा करते थे। जब हम सात हिंदुस्तानी की शूटिंग करने गोवा गए, तो हम सब ने ट्रेन के तीसरे

दर्जे में सफर किया। ये उनका भारत के आम आदमी को सम्मान देने का अपना तरीका था। लोकेशन पर हम सभी सरकारी गेस्ट हाउसों में रुकते, जहाँ बहुत ही मामूली सुविधाएं होतीं। रात में हम लोग एक हॉल में जमीन पर अपना होल्डाल बिछा कर सोते। वहाँ कोई बिजली नहीं होती थी। मामूजान भी हमारे साथ ही जमीन पर सोते और रात में जब कभी मेरी आँख खुलती तो मैं देखता कि वो देर रात लालटेन की रोशनी में अगले दिन होने वाली शूटिंग के डायलॉग लिख रहे होते।'' अपनी फिल्मों की शुरुआत से जो समाजवादी लय ख्वाजा अहमद अब्बास ने जारी किया वह आजीवन बना रहा। उन्होंने राजकपूर के साथ बाबी भी लिखी तो उसे समाजवादी नजरिये और प्रगतिशीलता के पुट से नवाजा। राजकपूर ने उनसे श्री 420 और आवारा जैसे फिल्मों की पटकथा लिखवाई तो वही ख्वाजा अहमद अब्बास ने नया संसार बैनर तले कई यादगार फिल्में दी। सामाजिक–आर्थिक चिंताओं को सिनेमाई दायरे में लाकर दर्शकों के सामने प्रदर्शित करने की क्षमता ख्वाजा अहमद अब्बास के बाद बालीवुड में शायद ही देखने को मिलता है।

फिल्मः नीचा नगर, 1946, निर्देशक–चेतन आनन्द, पटकथा लेखक ख्वाजा अहमद अब्बास, संगीतः रविशंकर

फिल्म की कहानी दो वर्गों के बीच उभरते सामाजिक संघर्ष पर आधारित है। जहां एक तरफ बलराज युवा वर्ग के साथ हाशिये पर खड़े समाज के प्रतिनिधि है। वही दूसरी तरफ एक धनकुबेर अपनी महत्वाकांक्षी परियोजना के लिए गांव के गरीबों की बलि चाहता है। कनफ्लिक्ट जोन को चेतन आनन्द ने जिस आदर्श के सहारे रचा है वह उस दौर के शोषित–पीड़ित समाज के लिए नैसर्गिक न्याय पर आधारित है। इप्टा के लिए नीचा नगर दूसरा सिनेमाई अनुभव था।

काव्यात्मक अभिव्यक्ति से भरपूर हाशिये पर गुजरबसर कर रही भारतीयता को दर्शाने वाली पाथेर पांचाली (1955) के निर्देशन से सात साल पहले चेतन आनन्द के निर्देशन में बनी नीचा नगर उस समय के लिए अकल्पनीय फिल्म है। मैक्सिम गोर्की के उपन्यास पर आधारित इस फिल्म को कान्स फिल्म फेस्टिवल में पुरस्कृत किया गया था। चेतना आंनद की गहरी सोच

और सिनेमा की कलात्मक समझ ने आजादी से पूर्व भारत के धन्नासेठों और गरीब खेतिहरों के बीच चल रहे प्रपंच को खूबसूरती से दर्शाया है। कामिनी कौशल जो फिल्म की मुख्य भूमिका में थी अपने अनुभवों को याद करते हुए उसे एक बेहतरीन लम्हा बताती हैं। वे बताती हैं ''उस वक्त औरतों का फिल्म में काम करना बहुत अच्छा नही माना जाता था लेकिन चेतन को मेरा परिवार ठीक से जानता था ऐसे में मेरे लिए नीचा नगर में अभिनय करना बहुत आसान रहा''

नीचा नगर को संगीतबद्ध किया था पंडित रविशंकर ने। संवाद लिखा था ख्वाजा अहमद अब्बास ने जबकि जोहरा शहगल और उनके गुरु उदय शंकर ने नृत्य का निर्देशन दिया था। यह सभी लोग इप्टा के बम्बई स्क्वायड के कलाकार थे साथ ही फिल्म की कहानी भी उस देश के लेखन पर आधारित थी जो कृषक–मजदूर पर एकाग्र क्रांति की रागिनी को दुनिया से रूबरू कर चुका था।

फिल्म की कहानी में नायक की भूमिका अदा कर रहे थे रफीक अनवर। जो एक आदर्शवादी युवा के रूप में हर तरीके के षडयंत्रो के खिलाफ डटकर सामना करते हैं। यह फिल्म ब्रिटिश राज की यातना से उपजे पूंजीवादी शोषण पर आधारित संघर्ष की कहानी थी। जहाँ एक तरफ शोषण पर आमादा लालची सरकार अपनी परियोजना के लिए गरीब ग्रामीणों को हर तरीके से उनकी जमीन हथिया लेना चाहती है तो वही दूसरी तरफ उसका विरोध हो रहा। विरोध करने वाले जत्थे में उस जमींदार की बेटी भी सम्मिलित है।

नीचा नगर को वितरकों और प्रायोजकों के द्वारा नकार दिया गया। ऐसा इसलिए था क्योंकि उस दौर का फार्मूला सिनेमा जो व्यवसाय करने में सक्षम था उसकी कसौटी पर फिल्म कहीं नही उतरती थी। विभाजन के दौरान बने माहौल के कारण ऐसे ही भारतीय फिल्म उद्योग की स्थिति उत्साहजनक नही थी। इसके अलावा उस दौर के सिनेमाई व्याकरण से फिल्म बहुत दूर थी। इसमें गीत और नायिका प्रधान नृत्य का अभाव भी था। इन सभी कारणों से फिल्म ने व्यवसाय की दृष्टि से कोई बड़ी सफलता नही अर्जित की। लेकिन कांस में पुरस्कृत होने के बाद इसे पंडित नेहरू द्वारा संज्ञान में लिया गया और दिल्ली में हो रहे पंचशील सम्मेलन में

कई अंतर्राष्ट्रीय दिग्गजों को दिखाया गया। बाद में इस फिम के कुछेक प्रदर्शन हुए लेकिन आमजनमानस ने इसमें खासा उत्साह नही दिखाया।

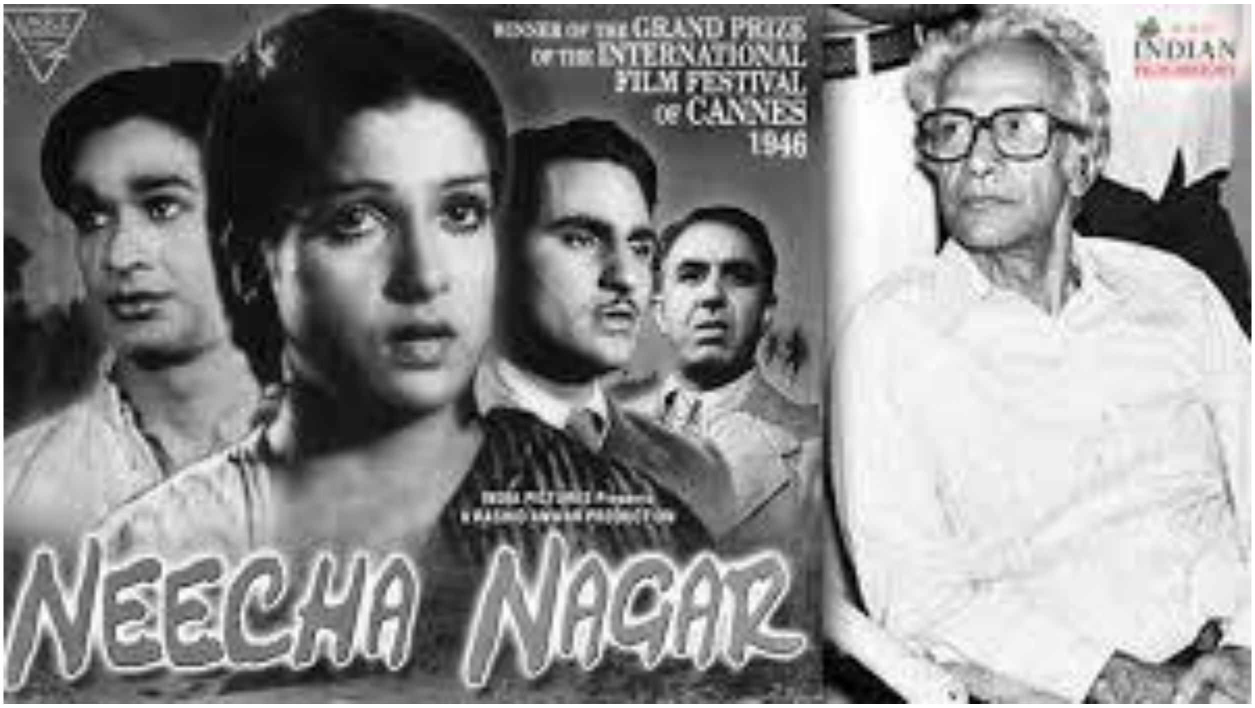

तस्वीरः नीचा नगर (साभारः indiatimė)

चेतन आनन्द की नीचा नगर और वी शांताराम की अछूत कन्या का जिक्र भारतीय सिनेमा के चौथे दशक को रेखांकित करने के लिए महत्वपूर्ण हैं। शांताराम एक ऐसे माहौल से आए थे जो सिनेमा से रूबरू था जबकि चेतन आनन्द लंदन से वापस आकर अपने आपको इप्टा के साथ जोड़े हुए थे। उनके ही बुलावे पर बलबीर साहनी भी बम्बई पहुंचे थे। और दोनों कलाकार इप्टा के नाटकों में सहभाग कर रहे थे। जुबैदा (इप्टा का नाटक) के निर्देशन के बाद चेतन आनन्द को सिनेमा के लिए जरूरी संसाधनों की खोज का सूत्र मिल गया था और उन्होंने ख्वाजा अहमद अब्बास, बलबीर साहनी जोहरा शहगल और रविशंकर के सहयोग से नीचा नगर बनने की पहल को मूर्त रूप देना शुरू किया।

नीचा नगर के माध्यम से चेतन आनन्द ने भारतीय सिनेमा को अगले दशक के लिए नायक और उसके संघर्ष की बुनियाद रख दी। यही कारण रहा की लम्बें समय तक भारतीय सिनेमा

में नायकों को आदर्शवादी, ग्रामीण परिवेश का दिखाया जाता रहा। क्योंकि देश के भविष्य में अपनी भूमिका सबसे ज्यादे इन्हीं युवाओं को देनी थी। इस वर्ग की जरूरत गाँव के खेतों में भी थी और विशालकाय शहर के कारखानों में भी। इसलिए उस दौर के निर्देशकों ने इस युवा वर्ग को प्रदर्शित करना शुरू किया। दो बीघा जमीन का शम्भू महतो हो या प्यासा का विजय सभी पात्रों में एक आदर्श और संघर्ष की जिजीविषा को भारतीय सिनेमा के पांचवे दशक में महसूस किया जा सकता है।

दो बीघा जमीन (1953), निर्देशकः विमल राय, गीतकारः शैलेन्द्र, पटकथाः ह्रषिकेश मुखर्जी, संगीतः सलिल चौधरी, अभिनेताः बलराज साहनी, निरूपा रॉय

दो बीघा जमीन भारतीय सिने इतिहास की बहुमूल्य धरोहर है। फिल्म आलोचकों ने इसे सराहा है, तो वहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इसके शिल्प और कहानी ने अपनी छाप छोड़ी है। विमल राय दो बीघा जमीन बनाने से पहले लम्बे समय तक बंगाली सिनेमा और रंगमंच में सक्रिय थे। इप्टा के साथ उनका जुड़ाव लगभग एक दशक का रहा।

फिल्म की कहानी में बलराज साहनी को शम्भू महतो का मुख्यपात्र दिया गया था। शम्भू महतो अपनी दो बीघे जमीन को बचाने के लिए दूर शहर विस्थापित होता है। शहर में जी तोड़ मेहनत करने के बावजूद भी वह अपनी जमीन को औद्योगिक पूंजी से बचा नही पाता। फिल्म में इस कहानी को कहने के लिए विमल राय ट्रैजडी का सहारा लेते हैं। यह चौथे दशक की फिल्मों से इस मामले में भिन्न है, क्योंकि भारतीय दर्शकों के लिए सुखान्त होना आज भी सिनेमा का सबसे जरूरी घटक है। जिसे खारिज कर विमल राय एक जरुरी यथार्थ को सिनेमा में स्थापित करते हैं।

भीष्म साहनी दो बीघा जमीन के निर्माण के वक्त की एक रोचक वाकये का जिक्र अपनी किताब में करते हैं। वे बताते हैं कि किस तरह बलराज ने अपने आपको इस फिल्म के लिए तैयार किया था। उन्होंने (बलराज ने) अभिनय लिए कलकत्ता के रिक्शा यूनियन का मार्गदर्शन मांगा। लगभग तीन महीने उनके साथ बिताने के बाद उनकी मुलाकात एक ऐसे रिक्शा चालक से हुई जो पंद्रह सालों से कलकत्ता में रिक्शा खींच रहा था। उसे भी अपनी गांव की दो बीघा

जमीन ही बचानी थी। इस कहानी को सुनने के बाद बलराज ने अभिनय के सारे प्रयास बन्द कर दिए। उन्होंने उस जवान रिक्शा चालक को देखना उसके बारे में सोचना शुरू किया। उन्होंने खुद को उसी तरह तैयार किया जिसके बाद कि कहानी इतिहास का हिसा बनी। बलराज साहनी का शम्भू महतो आज भी अपने अभिनय के लिए भारतीय सिनेमा की मानक कसौटी है।

तस्वीरः दो बीघा जमीन (साभारः विमल राय प्रोड्क्शन)

फिल्म की कहानी में शम्भू महतो को उसकी जमीन से बेदखल करने की शुरुआत कोर्ट से शुरू होती हैं। जहां मुंशी के साथ मिलकर सूदखोर, शम्भू के नाम पर भारी कर्ज के दस्तावेज न्यायधीश के सामने पेश करता है। दस्तावेजों के आधार पर न्यायालय द्वारा शम्भू को दो सौ पैंतीस रुपये का भुगतान तीन महीने के भीतर करने का आदेश दिया जाता है। इस दृश्य में विमल राय ने शहरी सभ्रांत लोगों के खोंखले पन और उन्हें ग्रामीण मासूमियत पर हंसते हुए

दिखाया है। यह दृश्य भारत के स्पष्ट विभाजन को दिखाती है। जो शहर और गांव के रूप में भी है। मासूमियत और धूर्तता के रूप में भी।

शम्भू महतो जिसके लिए जमीन माँ के समान है। उसे बचाना अपनी जिंदगी हासिल करना है। वह उम्मीद के साथ कलकत्ता कूच करता है ताकि कठिन परिश्रम करके वह पैसों का भुगतान कर सके। शहर उसे एक मात्र आशा की किरण लगती है। विमल राय कलकत्ता का चित्रण दौड़ते–भांगते–हांफते शहर के रूप में करते है। जहां गांव का शम्भू महतो टकटकी बांधे शहर में अपनी संभावना को देखने की कोशिश में है। विशाल शहर में तिनके की तरह शम्भू महतो अपनी थकान मिटाने के लिए एक विशालकाय मूर्ति के नीचे लेटता है और रात अपने सन्नाटे में उसे सुला देती है। एक एक कर ऐसे दृश्य आते जाते हैं। अपने बेटे के साथ शम्भू शहर के बीचों–बीच श्रमजीविता की सीमाओं से बाहर जाकर पैसों के लिए मेहनत करता है।

शहर में विस्थापित लोगों के सुख–दुख में मिलकर शम्भू अपने लिए छत तलाशता है। रोजगार तलाशता है। उसका बेटा भी उसके कर्ज को चुकाने के लिए जूते पालिश करता है। बेटे और बाप के इस मानवीय सम्बंध को विमल राय ने ट्रैजेडीक समाप्ति दी है। वह इस देश के हरेक सामान्य श्रमिक के साथ जुड़ जाती है। जो देश के मुख्यधारा में नही हैं। जिनकी खबरें किसी अखबार में नही आती। फिल्म में पार्वती (शम्भू की पत्नी) का किरदार निभा रही निरूपा राय ने गर्भवती माँ के रूप में दुःखों की गाथा को और आर्त कर दिया है। अंततः फिल्म के आखिरी दृश्य में तीनों पात्र अपनी जमीन पर उग आए एक विशालकाय कारखाने को देखते हैं। जिनको कारखाने का दरबान चोर कहकर भगा देता है। अपनी जमीन के लिए जीने–मरने वाले लोगों के साथ आजाद भारत की संस्थाओं द्वारा किये जा रहे दुरुपयोग को विमल राय ने जो स्वर दिया है। उसे मोहभंग कहते हैं। देश की आजादी के बाद निकले सूरज से लालिमा की जगह कालिख गिराती हुई यह फिल्म आज भी भारतीय सिनेमा में मिल का पत्थर बनी हुई है।

मानवीय संवेदनाओं को पूंजी किस तरह नियंत्रित करती है। साथ ही वह दमन और शोषण के दायरे को कितना विस्तार देती है। इसे बहुत आसानी से विमल राय अपने दो बीघा जमीन के पात्रों के माध्यम से करते हैं। फिल्म सिर्फ स्वतंत्र भारत के महत्वाकांक्षी परियोजनाओं, शहरीकरण, आदर्शों से मोहभंग की कहानी ही नही कहती। बल्कि अपनी तहों में वह मनुष्य का मनुष्य के प्रति संवेदना के खात्मे को भी रह रहकर दिखाती है । वह मनुष्य को एकमात्र संसाधन के रूप में देखने की आलोचना करती है। साथ ही वह देश की सबसे बड़ी और घनी आबादी के पक्ष में राज्य की भूमिका को कटघरे में खड़ा करती है।

जागते रहो, (1956) निर्देशकः शम्भू मित्र– अनिल मित्र, संगीतः सलिल चौधरी, अभिनेताः राज कपूर, मोतीलाल, नर्गिस, गीतकारः शैलेन्द्र– प्रेम धवन

इप्टा के सेंट्रल स्कवायड में सक्रिय रह चुके और बंगाल की पृष्ठभूमि से जुड़े शम्भू मित्र और अनिल मित्र के निर्दर्शन में बनी जागते रहो ग्रैंड प्रिक्स से नवाजी गई। यह राजकपूर की बेहद महत्वाकांक्षी फिल्मों में से एक रही। फिल्म में शहरी समाज का एक कस्बाई चित्रण है। जिसमें विभिन्न जातीयता और भाषाई विभेदता से भरे लोगों की मौजूदगी एक देहाती युवक के लिए जानलेवा साबित हो रही। यह फिल्म राज कपूर के लिए कई मामलों में खास थी। आखिरी बार इसी फिल्म में नरगिस दत्त ने उनके साथ काम किया था। सलिल चौधरी ने फिल्म में संगीत दिया था। शैलेन्द्र और प्रेम धवन ने गीत लिखे थे। फिल्म उस दौर के यथार्थ का राजनैतिक रूप से आलोचना करती है। जहां शहर और गांव के बीच बढ़ रही खाई को दिखाया गया वही यह भी की किस तरह एक शहरी समाज के अंदर मनुष्यता के लिए जगहों की कमी आ रही।

1947 में आजादी के बाद से ही देश ने औद्योगिक प्रगति को अपना लक्ष्य बनाया। मूलतः वह शहर केंद्रित थी। साथ ही देश की प्रगति और उसके अंतर्राष्ट्रीय छवि के लिए भी महतवर्ण मानी गई। पंचवर्षीय योजनाओं के तीनों चरण इसी पर केंद्रित थे। नेहरू इन परियोजनाओं को आधुनिक भारत के तीर्थ स्थल बताने में लगे थे। इस तरह देश शहरीकरण के जद में आकर गांवों से विस्थापित होने के पथ पर अग्रसर हो चला। शिक्षा और रोजगार के केंद्र शहरों में

स्थापित हुए। फिल्म इसी विस्थापन के सामाजिक– राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में बनाई गई। आधुनिकता के प्रासंगिक मूल्यों पर टिप्पणी करती हुई फिल्म गांव से आए व्यक्ति को या गांव को बिल्कुल खामोश कर देती है। फिल्म के मुख्य पात्र के माध्यम से इस फिल्म में देखा जा सकता है। लगभग इस फिल्म में राजकपूर का संवाद शून्य रहा। शहर की इस त्रासदी को उस दौर में इतना मुखर चित्रण पहली बार पर्दे पर सम्भव हो रहा था। राजकपूर का भयाक्रांत चेहरा देश के चकचौंध और शहरीकरण के बीच गाँवों का रूपक लगता है। जो अंत में मासूमियत के साथ क्रोधित हो बोल पड़ता है मैंने कोई चोरी नहीं की है।

चित्रः जागते रहो (1956) साभारः विकिपीडिया

फिल्म की कहानी इप्टा के मशहूर रंगकर्मी शम्भू मित्र के नाटक एकदिन रात्रे पर आधारित थी। जो इप्टा के सक्रिय दिनों में देश के कोने–कोने में खेली और सराही जा चुकी थी। फिल्म का मुख्य अभिनेता शहर आकर प्यासा है। उसे पानी की तलाश है। जिसके लिए वह एक चाल में दाखिल हो जाता है। समूचा मोहल्ला उसे चोर समझकर पीछे पड़ जाता है। इस पूरे प्रकरण में वह चाल के अंदर चल रहे मक्कारेपन–खोंखलेपन को देखकर चकित है। अंततः उसे मंदिर में एक महिला के द्वारा पानी पिलाया जाता है। यह चित्रण भी उस दौर के भारत मे जाति–धरम के उपर मनुष्यता को व्यापक तरजीह की वकालत करता हुआ प्रतीत होता।

फिल्म, अपनी रचना और आकार में लगे भारत और उसके नीति–नियंताओं की आलोचना करती हुई सीमांत और हांशिये पर पड़े समाज के लिए आजाद भारत में नीतियों के अभाव को उजागर किया। साथ ही किस तरह औपनिवेशिक पुलिस का भय आजाद भारत मे भी मौजूद है? एक सामान्य व्यक्ति के लिए आजादी से हासिल सुविधाएं कौन सी है? देश के लिए जरूरी योजनाओं में देश की कितनी फीसदी आबादी शिरकत कर रही तथा उन परियोजनाओं से प्रभावित लोगों की संख्या कितनी है? इन सभी प्रश्नों से जूझती हुई यह फिल्म भारत के बाहर काफी सराही गई। नेहरू की राजनीति पर देश का भरोसा कायम था लेकिन उससे उपज रहे सुदूर असंतोष की बानगी का चित्रण फिल्म के माध्यम से शम्भू मित्र ने जागते रहो में किया। जो आज सम्भव नही। जो बस इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि उस दौर में सिनेमा के क्षेत्र में लगे लोगों की पृष्ठभूमि विविधता से भरपूर थी। जिस कारण फिल्म देश की विविधताओं और असमानताओं के चित्रण में सहायक भी थी।

जागते रहो भारतीय प्रायद्वीप में बन रहे शहरी समाज की तो एक तरफ आलोचना जहाँ करती है वहीं दूसरी तरफ उस समाज में दिखाई दे रहे नवीन मूल्यों को भी दिखाने का प्रयास करती है। धर्मनिरपेक्ष भारत की तस्वीर गाँवों से शहरों की तरफ रुख करेगी अथवा शहर ही उसे गाँवों की तरफ मोडेंगे इस प्रश्न को भी रेखांकित करती है।

प्यासा (1957) गुरुदत्त, पटकथा– अबरार अल्वी, गीतकार– साहिर लुधियानवी, संगीतकार– एसडी बर्मन

प्यासा (1957) गुरुदत्त द्वारा अभिनीति–निर्देशित इस फिल्म की कहानी को इप्टा से जुड़ाव रखने वाले अबरार अल्वी ने लिखा था। पिछली 4 फिल्मों से इतर इस फिल्म की विशेषता पोएटिक क्लाइमेक्स और भव्य विजुअल्स के कारण आज भी प्रासंगिकता रखती है। प्यासा का विजय आज भी कला और कविता के प्रति उदासीन छद्म समाज की आलोचना करता है। कला की सार्थकता के जनवादी सवाल को जनता के बीच ही ले जाकर इस फिल्म ने बघिया उधेड़ दी।

प्यासा के गीतों को साहिर ने लिखा था। जो आजादी के बाद 12 सालों में देश के रहनुमाओं द्वारा किये गए कामों के अंजाम पर सवालिया निशान उठती है। सलीब पर लटके ईसामसीह की तरह प्यासा का विजय हिंदी सिनेमा की सबसे महान कविता है। जिसके अनेकों पाठ हो सकते हैं।

फिल्म की कहानी आजाद भारतीय समाज मे स्थापित हो रहे मूल्यों की आलोचना से शुरू होती है। फिल्म का अंत उस समाज मे स्थापित मूल्यों के खंडन पर समाप्त होती है। फिल्म उस विजय की कहानी है जिसे जीते जी समाज ने स्वीकृत नही किया। प्रताड़ित और बहिष्कृत किया। उसका उपहास उड़ाया। उसकी उपस्थिति पर खेद प्रकट किया। यहां समाज को एक रूपक देकर देश के रूप में भी समझा जा सकता है। देश की तरक्की को देखा जा सकता है। उस तरक्की से उत्पन्न मूल्यों को परखा जा सकता है। जिसका मारा विजय चौतरफा बहिष्कृत है। तिरस्कृत होकर खुद को खत्म करने पर आमादा है।

चित्रः प्यासा (1957) साभार न्यू इंडियन एक्सप्रेस

विजय की कहानी शुरू होती है उसकी बेरोजगारी से। बेरोजगार विजय के पास मुहब्बत का सबक भी है। जीवन के प्रचिलित कसौटियों पर वह खारिज हो चुका है। प्रेम–परिवार से विपन्न विजय की कहानी में अहम मोड़ तब आता है जब उसे गुलाबो (वहीदा रहमान) से मुलाकात होती है। गुलाबो और विजय का किरदार समाज द्वारा दरकिनार कर दिए गए लोगों का किरदार है। फिल्म इसके माध्यम से मानवीय संवेदनाओं की पड़ताल करती है। जो खोंखली और मृत है। कलाविहीन और नैतिकता को खारिज कर चुकी है। वस्तुतः यह आजादी के मायने और तरक्की के अर्थों को जोड़कर उस त्रासदी को रेखांकित करती है। जहां समाज मे आदर्श विघटित हो चुके हैं और उनपर छद्मता का आवरण चढ़ चुका है।

जीते जी जिस विजय को समाज ने एक शब्द अपनत्व के नही कहे। वह उसकी मृत्यु के बाद महान शायर बताते हुए इकट्ठा है। यह फिल्म का सबसे आखिरी दृश्य है जो कथा के पड़ाव पर सबसे महत्त्वपूर्ण है। विजय को महान बताने वाले वही लोग है जो जीते जी उसे बर्दाश्त नही कर सके थे। अबरार अल्वी की इस कहानी को गुरु दत्त ने जिस भव्यता के साथ टांका है फिल्म में वह एक अलग चर्चा का विषय है। लाइटिंग के विशेष इस्तेमाल के कारण गुरु दत्त की तुलना सिटीजन केन के निर्देशक ओरसन वेल्स से की जाती है ।

प्यासा अपने काव्यात्मक लहजे के साथ–साथ अपने गीतों के लिए भी याद की जाती है। जिसे साहिर ने लिखे थे। साहिर के जीवनी पर आधरित इस फिल्म को राजनैतिक रूप से परखने के लिए फिल्म के गीत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सलीब पर टँगे ईसा की तर्ज पर गुरु दत्त के द्वारा बोले जा रहे शब्द ‘‘जिन्हें नाज है हिन्द पर वो कहां है’’ फिल्म की सबसे संवेदनशील राजनीतिक टिपण्णी है। जो उस दौर के भारतीय नीति–नियंताओं द्वारा देश को दिखाए गए सपनों की बुनियाद पर प्रश्न उठाती है। यह फिल्म इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह महानगरीय जीवन के एकाकीपन और स्वार्थी रवैये के साथ पूंजीवाद की अंधी दौड़ में भागते रहने की आलोचना करती है। जो जीवन के दोहरेपने से समझौता कर किसी भी कीमत पर आगे बढना चाहती।

समीक्षकों ने इसे नेहरू मोहभंग के रूप में देखा है। लेकिन यह एक राज्य के रूप में भी देश के साथ हो रहे छल को उद्घाटित करती है। जो समाज गांधी–नेहरू आधारित मूल्यों के साथ अंग्रेजो के खिलाफ सड़क पर था उसमें आ रही तब्दीली को भी उद्घाटित करता है। लोकतंत्र के प्रति आस्था और विश्वास पर प्रश्नचिन्ह उठता है। यह प्रश्न को जिस आधार भूमि से उठाता है वह एक साहित्यकार की जमीन है। ऐसे में प्यासा एक फिल्म ने होकर साहित्य की श्रेणी में आ जाती है। जिसके कारण टाइम मैगजीन ने भी उसे दुनिया की सर्वश्रेष्ठ सौ फिल्मों में शुमार किया। बाद में प्यासा को जापान,पेरिस जर्मनी में प्रदर्शित किया गया।

निष्कर्ष

भारतीय सिनेमा के चौथे और पांचवे दशक की फिल्मों के पास राष्ट्रवाद और देशभक्ति के इतर हटकर सोचने और समझने की सहूलियत हासिल हुई। ऐसा उस दौर में सक्रिय फिल्मकारों के राजनैतिक समझ का परिणाम था। देश की आजादी के समय उत्पन्न समस्याओं को उन्होंने बखूबी समझा। जिसका परिणाम यह हुआ की उस दौर का सिनेमा लक्षित वर्ग का सिनेमा या पूंजी बनाने का सिनेमा न रहकर कई मायनों में हाशिये पर खड़े समाज का सिनेमा हो चला।

जिस कथाशैली को आधार बनाकर भारतीय निर्देशकों ने अपनी फिल्में देशभर में प्रदर्शित की वे मनुष्यता को लक्ष्य बनाकर बनाई गई। जिसमें शोषण आधारित समाज की आलोचना की गई (धरती के लाल), जो पूंजी और औद्योगिक हथकण्डो के खिलाफ संगठन बनाकर प्रतिरोध की वकालत की (नीचा नगर), जहाँ औद्योगिक और विकास के मानकों को ग्रामीण परिवेश में लाकर परखने की कोशिस (दो बीघा जमीन) की गई। इसके अलावा विकास को ध्येय मानकर शहरीकरण की अनिवार्यता (जागते रहो) और अंततः पूरे दस साल आजादी की हवा को महसूस कर चुके देश के विघटित मूल्यों (प्यासा) को दिखाया गया।

इन पांचो फिल्मों के इर्द–गिर्द ही उस दौर का सिनेमा रहा। फिल्मों में नायक को साधारण दिखा उस देश के सबसे दरकिनार आबादी के माध्यम से स्वतंत्र के अर्थों को देखने की कोशिश की गई। वाकई स्वतन्त्रता के लाभार्थी कौन लोग हैं इन प्रश्नों की पड़ताल की गई। साथ ही एक लोकतान्त्रिक देश के अंदर प्रजा या लोक के प्रश्न किस तरह विकास और औद्योगिक योजनाओं के कारण तिरोहित हो रहे इसकी भी विवेचना इस दौर की फिल्मों के द्वारा किया गया।

प्रगतिशील मूल्य, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, वैज्ञानिक चेतना को जनतान्त्रिक देश में तरजीह देती हुई यह फिल्में शहरों के माध्यम से उत्पन्न हो रहे नवीन मूल्यों और उसके परिणामो को भी रेखांकित करने के लिए प्रयासरत रही। प्यासा के माध्यम से गुरु दत्त ने जो त्रासदी को दिखया वह आज अपने विकराल रूप में हमारे सामने है। देश का शहरी मध्यमवर्ग आज सबसे

ज्यादे सवालों के घेरे में है। जिसे देशकाल के राजनैतिक उठापटक के माध्यम से समझा जा सकता है।

अध्याय 5

पर्दा गिरता है

पिछले अध्याय में हमने इप्टा के गठन के बाद सिनेमा में विषयगत परिवर्तन का विश्लेषण किया है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य भारतीय सिनेमा पर इन्ही विषयगत परिवर्तनों को दृष्टिगोचर करना था। इस अध्याय में हम इस शोध के प्रमुख प्रश्नों और उन प्रश्नों से हासिल समाधान से रूबरू होंगे। हमने प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के माध्यम से भारतीय सिनेमा का प्रारम्भ, समय के साथ हो रहे उसमें परिवर्तन, सामाजिक और राजनैतिक हस्तक्षेप तथा देशकाल के लिए जरूरी कला हस्तक्षेपो को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। इस शोध के माध्यम से हमने यह भी देखने का प्रयास किया है कि भारतीय समाज में स्थापित लोककला को किस तरह एक आधुनिक राजनैतिक हस्तक्षेप के लिए प्रयोग में लाया गया।

हम क्रमशः इस शोध के चारों महत्वपूर्ण प्रश्नों के निष्कर्ष को इस अध्याय में प्रस्तुत करेंगे। शोध का प्रथम प्रश्न था, इप्टा के गठन से पूर्व भारतीय सिनेमा का प्रमुख स्वर क्या था?

जैसा की हमने प्रथम और द्वितीय अध्याय में भारतीय सिनेमा की शुरुआत को निर्दिष्ट किया है। जो दादा साहेब फाल्के से शुरू होकर हिमांशु राय से होते हुए वी शांताराम जैसे महत्वपूर्ण निर्देशकों तक पहुंचता है। जिसके अंतर्गत, भारतीय सिनेमा अपने शुरुआत में जहाँ मिथकों और पुराणों को आधार बनाकर जनता के बीच संवाद स्थापित करता है। दादा साहेब फाल्के की शुरूआती सभी मूक फिल्मों को इसके तहत देखा जा सकता है। उनकी फिल्मों में हिन्दू मिथकों की बहुतायता है। जो लोक के भीतर कथा शैली में पहले से ही विराजमान थी। चुकी भारतीय समाज पर औपनिवेशिक बन्धनों के कारण अपनी लोक अस्मिता के साथ जुड़ाव का स्वर लम्बे समय से संक्रमित था ऐसे में भक्तिकालीन साहित्य को दादासाहेब फाल्के ने सैलुलाइड पर जोड़कर सिनेमा की धार्मिक शुरुआत कराने में सफलता हासिल की। जो लोकप्रियता और व्यापार के दोनों मोर्चे पर सफल साबित हुई।

यह स्वर दूसरे दशक में भी कमोबेश जारी रहा। इसे लन्दन से पढ़ाई कर देश लौटे हिमांशु राय और बंगाल की पृष्ठभूमि से जुड़े धीरेन्द्रनाथ गांगुली ने अपने फिल्मों के जरिये बदला। इसके साथ ही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और पारसी रंगमंच से मुतासिर काव्यात्मक फिल्मों का दौर

शुरू हुआ। तीसरे दशक तक पारसी थिएटर के नाटकों का फिल्म रूपान्तरण जोर पकड़ा। तो इसी बीच औपनिवेशिक सरकार की आलोचना करती हुई भी कुछ फिल्में प्रदर्शित हुई। भक्त विदुर और मजदूर को इस कोटि में रखा जा सकता है। लेकिन इनको उस दौर का प्रतिनिधि सिनेमा नही माना जा सकता क्योंकि ये दोनों फिल्मो को अंग्रेजी शासन द्वारा प्रतिबंधित कर दिया गया था।

तीसरे दशक में वी शांताराम के आगमन के बाद सामजिक यथार्थ से जुड़ी फिल्में भी प्रदर्शित हुई लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण भारतीय सिनेमा भी प्रभावित हुआ। फिर भी तीसरा दशक भारतीय सिनेमा के लिए निर्णायक साबित हुआ। सवाक सिनेमा की शुरुआत तथा सिनेमा में संगीत की महत्ता के स्वर यही फूटे और भारतीय सिनेमा की अनिवार्य उपस्थिति बन गये।

दूसरे अध्याय के माध्यम से यह बात स्पष्ट होती है की भारतीय सिनेमा विश्वयुद्ध की समाप्ति तक मुख्य रूप से पारसी रंगमंच और पौराणिक कथा शैलियों से प्रभावित रहे। आधुनिक फिल्म समीक्षकों ने भी भारतीय सिनेमा की इस विशेषता को प्रधान मानते हुए उपरोक्त बात पर सहमती जताई है।

शोध का द्वितीय प्रश्न है, इप्टा के गठन के बाद भारतीय सिनेमा में किन विमर्शों का उभार देखा गया? इस प्रश्न से हासिल निष्कर्ष का विश्लेषण शोध के तीसरे अध्याय में किया गया है। इप्टा की शुरुआत और उससे पहले प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद कला की राजनैतिक व्याख्याओं का दौर चला। जो सिर्फ एक भाषा या क्षेत्र आधारित न होकर बहुभाषिक था। जो कला की पक्षधरता को सीमांत और शोषित समाज के लिए आवश्यक मानता था। शोध के तीसरे अध्याय में प्रलेस और इप्टा के उद्देश्य को निरुपित किया गया है।

इप्टा के गठन के बाद भारतीय सिनेमा के अंदर विकास की अवधारणा, नागरिकता का वास्तविक अर्थ और समाजवादी समतामूलक समाज के लिए जरूरी विमर्शों का उभार देखा जा सकता है। इप्टा के गठन के बाद साम्प्रदायिकता के खिलाफ साझी विरासत को दर्शकों तक पहुंचाने के लिए फिल्में बनाई गई। जो बाद के दशकों में और जोर पकड़ी। इसके साथ ही

आजादी के वास्तविक हकदार कौन है? आजादी किन अर्थों में हाशिये पर पड़े व्यक्ति को प्रभावित कर रही? इन प्रश्नों को सिनेमा के माध्यम से दर्शकों तक पहुँचाने का प्रयास तेज हुआ।

इप्टा के गठन के बाद भारतीय सिनेमा का नायक सही अर्थों में वास्तविकता को आत्मसात किया। जो अलौकिक शक्तियों से अनजान था। जिसके पास सीमित संसाधन और असीमित आदर्श थे। जो मेहनतकश था और शोषण के खिलाफ मुखर भी। जो देश के एक व्यापक जनसंख्या का प्रतिनिधि था। जिसके लिए आजादी सही मायनों में अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को हासिल करने की लड़ाई थी। जो आजादी के बाद भी उसके जीवन में बनी है। इप्टा के गठन के बाद ये विमर्श हिंदी सिनेमा के मूल स्वर बनें।

इप्टा के गठन ने भारतीय सिनेमा में नायक की अवधारणा को तो बदला ही साथ ही सिनेमा को लोक संवेदना का माध्यम भी बनाया। सिनेमा ने उन विमर्शों को छेड़ा जो आजादी की एकजुट लड़ाई में द्वितियिक थे। जो भारतीय समाज में व्याप्त थे और उनको नेस्तनाबूद किये बिना एक बड़ी आबादी तक आजादी के सही अर्थों को नहीं पहुंचाया जा सकता था। जो सामाजिक और आर्थिक रूप से विभेद के परिचायक था जिसे आजादी के बाद और मजबूत करने के लिए तमाम संगठन कार्य कर रहे थे। इप्टा ने उन पुरातनपंथी सोच की जगह एक आधुनिक और प्रगतिशील सोच आधारित समाज बनाने के लिए अपने आपको पप्रतिबद्ध किया जो बाद में उसके कलाकारों द्वारा भारतीय सिनेमा में भी परिलक्षित हुए।

इप्टा के कलाकारों और कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया के महासचिव पीसी जोशी की निर्णायक भूमिका ने सिमित समय में संगठन को वह लोकप्रियता हासिल कराई जिससे आजाद भारत में लोक पक्षधरता को और मजबूती मिली। साथ ही इप्टा के कलाकारों ने इप्टा के इन मूल्यों को अपने सिनमाई करियर में बिना किसी समझौते के जारी रखा।

प्रस्तुत शोध का तीसरा प्रश्न है, इप्टा ने भारतीय सिनेमा में विषयगत बदलावों के इतर और किस तरीके के परिवर्तन किये? जिसका समाधान चौथे अध्याय में किया गया है। इप्टा के पास जनता के सुख–दुख से उपजी संगीत और गीत का लम्बा अनुभव था। जिसे बाद में

उसके गीतकारों ने सिनेमा में भी जारी रखा। इस दौर की फिल्मों में गीत और संगीत पटकथा के ही हिस्सा रहे। चाहें दो बीघा जमीन का गीत 'धरती कहे पुकार के' हो या जागते रहो को 'मोहन प्यारे जागो' इन गीतों के माध्यम से कहानी को ही आगे ले जाने का प्रयास किया गया। बाद में आई फिल्म प्यासा ने काव्यात्मकता किस तरह फिल्म की प्राणभूमि हो सकती है उसे भारतीय निर्देशकों को बताया। साथ ही इन गीतों ने सिर्फ सिनेमा के दायरे तक ही खुद को सिमित नही रखा बल्कि उससे बाहर निकलकर महत्वपूर्ण राजनैतिक टिप्पणिया भी की। जिन्हें नाज है हिन्द पर वो कहाँ है, साहिर का लिखा यह गीत पहली पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर लिखी गई। जिस समय आजाद भारत के सभी कर्णधार सत्ता में थे।

इसके अलावा इप्टा ने सिनेमा में नायिकाओं के महत्व को भी समझा। नायक प्रधान फिल्मों के साथ ही प्यासा में गुलाबों के रूप में वहीदा रहमान की मजबूत उपस्थिति हुई। इससे पहले भारतीय सिनेमा में निर्णायक की भूमिका नायकों द्वारा ही अदा करने का प्रचलन था। प्यासा के बाद यह दृश्य बदला और मदर इण्डिया, साहेब बीबी और गुलाम जैसी फिल्मों में नायिकाओं ने अपनी गम्भीर उपस्थिति से स्त्री स्वर को तवज्जो देने की शुरूआत बालीवुड में की।

धरती के लाल से प्यासा के विजय तक सभी फिल्मों का निर्माण उस अभिजात्य अभिव्यक्ति को चुनौती देने में सफल रहा जो सिनेमा को भारी संसाधन की कला मान उसे व्यायसायिक बनाने में तत्पर थे। इप्टा ने जहाँ सीमित संसाधनों के साथ धरती के लाल बनाई और चेतन आनंद को नीचा नगर बनाने में सहायता दी तो वही बाद में गुरु दत्त और विमल राय जैसे निर्देशकों ने भी इस क्रम को जारी रखा। यही कारण था कि जागते रहो का निर्माण भी उस दौर में सीमित व्यय के साथ सम्भव हो सका।

शोध का चौथा और आखिरी प्रश्न है, अपने संगठनात्मक मूल्यों को भारतीय सिनेमा में स्थापित कराने में इप्टा किस हद तक सफल रहा? इसके लिए चौथे अध्याय में पांच फिल्मों का विश्लेषण किया गया है। धरती के लाल फिल्म सर्वहारा बुर्जुआ संघर्ष के विमर्श पर आधारित है इसलिए उसके अंदर तो इप्टा के संगठनात्मक मूल्य नहीं होंगे यह प्रश्न ही नहीं उठता।

नीचा नगर के माध्यम से भी चेतन आनन्द ने लोभ और पूंजी के षड्यंत्र को ही प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। दो बीघा जमीन में शम्भू महतो का किरदार हाशिये पर जी रहे समाज के साथ आजाद भारत में रचे जा रहे दुश्चक्र का ही रेखांकन है। जहाँ विकास के सन्दर्भों के लिए गाँवों की बली दी जा रही। यह शहरी और ग्रामीण परिप्रेक्ष्य एक वर्ग के रूप में तब्दील हो जाते हैं। बस यहाँ टकराव की बजाए एक व्यक्ति के वास्तविक संघर्ष को दिखया गया।

विमल राय भी इप्टा की पृष्ठभूमि से थे ऐसे में उनके द्वारा वर्ग संघर्ष को क्यों नही दिखाया गया यह सवाल उठना जायज है। लेकिन इसके साथ ही यह भी जानना महत्वपूर्ण है की आजादी के बाद कम्युनिष्ट पार्टी को नेहरु ने प्रतिबंधित कर रखा था। ऐसे में विमल राय द्वारा मध्यम मार्ग का अपनाया जाना सही प्रतीत होता है। जागते रहो और प्यासा की पटकथा को इप्टा से जुड़े शम्भू मित्र और अबरार अल्वी ने लिखा था। यही कारण था की इप्टा द्वारा उठाए गये कला के सरोकार भी इन फिल्मो के नायकों पर हावी रहे। इन फिल्मों की राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि ने उस दौर के अन्य निर्देशकों को भी प्रभावित किया। महबूब खान की 59 में आई फिल्म मदर इण्डिया हो या उसके बाद का सिनेमा सबपर इप्टा का प्रभाव दिखाई देता है। साहेब बीबी और गुलाम से लेकर स्त्री प्रतिनिधित्व का कारवां सीता और गीता से होते हुए बैंडिट क्वीन और आज मर्दानी तक पहुँच चूका है। इसके पीछे इप्टा और उससे प्रभावित निर्देशकों को नजरंदाज करना सम्भव नही।

निष्कर्षः– तुलमनात्मक रूप से देखने पर इप्टा के गठन के बाद का सिनेमा राजनैतिक रूप से ज्यादा परिपक्व लगता है। जहां विषयों में एकरूपता नही है। साथ ही इप्टा के कलाकारों द्वारा उसके बाद के सिनेमा की हरेक शैली चाहें वह निर्देशन हो या पटकथा लेखन, गीत हो या संगीत हर विधा में प्रभावित किया है।

इप्टा के गठन से पूर्व तीन दशकों तक सिनेमा समाजिक अंतर्द्वंदों से छटकर पौराणिक–म्यूजिकल–ऐतिहासिक फिल्मों को बनाने में लगा था। वही फिल्म निर्माण में अभिजात्य वर्ग का बोलबाला था। जबकि इप्टा के गठन ने कला की सार्थकता के प्रश्न के साथ फिल्म निर्माण को समाजवादी विचार के साथ जोड़ा।

समाजवादी विचार से तातपर्य है पूंजी पर किसी विशेष व्यक्ति का नियंत्रण न हो। वह समाज की साझी हो। इप्टा के फिल्म निर्माताओं ने इस विचार को सिनेमा में सम्भव बनाया। धरती के लाल इसका उदाहरण है। जहां फिल्म की कहानी से लेकर उसके प्रदर्शन तक कई वर्गों–विचारों–प्रतिनिधियों द्वारा उसे सम्पादित किया गया। जो टाकीज सिनेमा में आज भी सम्भव नही है।

इप्टा के फिल्म निर्माण ने जिस कामन मैन की कल्पना की और उसे हताश–निराश कर दुनिया से पलायन को मजबूर कर दिया, सातवें दशक में वही विजय एंग्री यंग मैन बन उस समाज की सच्चाइयों का सामना करता है। लेकिन वहां उसके मूल्य प्यासा के विजय से बिल्कुल विपरीत हैं। यह पांचवे दशक का प्रभाव रुमानियत नायक के दौर से लेकर तिलमिलाए नायक तक जारी रहा।

इप्टा ने हिंदी सिनेमा के गीत–संगीत परम्परा को महान विरासत सौंपी। शैलेन्द्र–हसरत–कैफी आजमी–साहिर के गीतों ने हिंदी सिनेमा को एक से बढ़कर एक गीत दिए। जिसकी धुनों ने हिंदी सिनेमा को लोकप्रिय बनाने में कोई कसर नही छोड़ी।

संदर्भ ग्रन्थ

1 Moti Gokulsingh,Wimal Dissanayake(2004),Indian popular cinema:A narrative of cultural change,trerntham books,Englan

2 Keval Jkumar,Mass communication in India,jaico publication,new delhi

3 Ashish Rjadhyhyaksha,Indian Cinema:A very short introduction,Oxford university press

4 Cf ashok D ranade:the hindi film song,new delhi:DK pblishers,2006

5 Bahuvacahn39,oct-dec2013,MGAHV Vardha

6 shukla Narendra,Samaj aur Itihas,navin shrinkhla 10,Samayik prkashan,2014

7 Bniyak,Bhatachary,The left encounter progressive politics and indian cinema to 1950

8 Sharma Manoj, Neo Realism in Indian cinema1944-69

9 Chandra Bipin,Aazadi ke baad ka Bharat

10 Rai Hariyash, Bhishm Sahani Aur Ipta Aandoln,Anushilan,julai2015

11 Shukla Ramchandra:Hindi Sahitya Ka Itihaas:Sahitya Sarovar

12 Dass, M. (2009). The Crowd outside the Lettered City: Imagining the Mass Audience in 1920s India. Cinema Journal, 48(4), 77-98. Retrieved November 30, 2020, from http://www.jstor.org/stable/25619729

13 Roy, P. (2003). CINEMA AS SOCIAL DISCOURSE. Proceedings of the Indian History Congress, 64, 1185-1191. Retrieved December 1, 2020, from http://www.jstor.org/stable/44145546

14 MASSEY, R. (1974). THE INDIAN FILM INDUSTRY. Journal of the Royal Society of Arts, 122(5214), 369-381. Retrieved November 30, 2020, from http://www.jstor.org/stable/41371253

15 GHOSH, P। ((2012। Rise and Fall of Calcutta's Group Theatre: The End of a Political Dream। Economic and Political Weekly, (10)47, ।42-36Retrieved January 9, 2021, from http://www।jstor।org/stable/41419931

16 C sagnik, IPTA and Indian cinema during the 1940s and the early 1950s

17 Sahni, K। (2011)। Two Brothers, Bhisham and Balraj Sahni: Some Experiences in the IPTA। Social Scientist, 39(11/12), 48-62। Retrieved January 3, 2021, from http://www।jstor।org/stable/23076332

18 Sen, A। (2015)। Bijon Bhattacharya and His Theatre। *Economic and Political Weekly, 50*(52), 5-5। Retrieved January 9, 2021, from http://www।jstor।org/stable/44003010

19 Purkayastha, P। (2015)। Women in Revolutionary Theatre: IPTA, Labor, and Performance। Asian Theatre Journal, 32(2), 518-535। Retrieved January 6, 2021, from http://www।jstor।org/stable/24737043

20. स्मृति सुमन, सार्वदेषकितावाद और भारतीय सिनेमा, प्रतिमान जनवरी–जून 2018

21 Htttps://indiancine.ma/EIC/info

22 Htttps://indiancine.ma/EIC/info

23 https://www.bbc.com/hindi/india-40134088

24 https://www.cinemaazi.com/people/k-a-abba

25 Sahni,bhism; Balraj: My Brother (New Delhi: National Book Trust, 1991[1981]

26 http://southasia.ucla.edu/culture/cinema/films/do-bigha-zameen/

27 https://www.firstpost.com/long-reads/mohalla-and-the-film-jagte-raho-on-everything-that-doesnt-disappear-5528871.html

28 https://www.cinemaazi.com/people

29 https://janchowk।com/art-culture-society/foundation-day-need-for-movement-like-a-more-progressive-writers-union/